।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ।।

।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

श्रीमद्औदुम्बर ऋषि प्रणीत

श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति

अनुवादक :
गो. अ. श्रीव्रजवल्लभशरण
वेदान्ताचार्य पंचतीर्थ

सम्पादक :
जयकिशोरशरण
सम्पादक 'श्रीसर्वेश्वर' पत्र

॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥
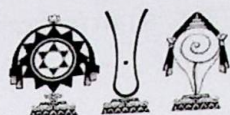
॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्रीमद्‌औदुम्बर ऋषि प्रणीत

श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति

अन्वयार्थ एवं भाषाटीकाकार:

गो.अ. श्रीव्रजवल्लभशरण

वेदान्ताचार्य, पञ्चतीर्थ

सम्पादक:

जयकिशोरशरण

सम्पादक: 'श्रीसर्वेश्वर' पत्र

प्रेरक:
आद्याचार्य श्रीनिम्बार्कभगवान्

प्रकाशक:
श्रीराम, श्यामसुन्दर बेरीवाला
बेरीवाला सेवा ट्रस्ट
कोलकाता

नवीन संस्करण:
१००० प्रतियाँ
अक्षयतृतीया, वि.स. २०७४, २९ अप्रैल २०१७

प्राप्ति स्थान:
श्री "श्रीजी" की बड़ी कुञ्ज, रेतिया बाजार, वृन्दावन
अ.भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) राज.

न्यौछावर:
100 रुपये

मुद्रण-संयोजन:
श्रीहरिनाम प्रेस, बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन - 281121
दूरध्वनि : 7500987654, 0565-2442415

सम्पादकीय-

यह निश्चय है कि सनातनी धर्माचार्यों के दृढ़ निष्ठापूर्ण चरणाश्रय लिये बिना मनुष्य को परमपद-भगवत्प्राप्ति नितान्त दुर्लभ है। श्रीआचार्यप्रवरों द्वारा शास्त्रविहित ऐतिह्य-परम्परा-प्राप्त उपदिष्ट-पथ पर निष्ठापूर्वक चलने वाला साधक ही परमलक्ष्य अर्थात् अपने परमाराध्य को प्राप्त होता है। किन्तु जब तक जीवों को परम्परागत श्रीआचार्यों के अद्‌भुत-अनुपम स्वरूप एवं उनके लीलाचरित का पूर्ण परिचय-परिज्ञान नहीं होगा, तब तक उनके श्रीचरणों में हार्दिक निष्ठा की निष्पत्ति भला, कैसे हो सकती है? इसी हेतु की सम्पूर्ति के लिये श्रीनिम्बार्काचार्य प्रभु के द्वारा लीलापूर्वक प्रकट हुए ऋषि श्रीऔदुम्बराचार्य ने "श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति" ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया, जिसमें वृन्दावनस्थ नित्य निकुञ्जविहारी श्रीश्यामाश्याम के प्रिय सखी श्रीरंगदेवी-श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् के दिव्य स्वरूप-सिद्धान्त एवं श्रीहरि के अनेक अवतारों द्वारा की गयी लीलाओं के सदृश ही चौदह चमत्कारी लीलाओं का दिव्य दर्शन कराया है। आपने केवल उन घटित लीलाओं का ही परिवर्णन किया है, जिनके आप प्रत्यक्ष-दर्शी रहे। आपश्री ने "श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति" अर्थात् श्रीनिम्बार्क प्रभु के विक्रम-पराक्रम-बल-शक्ति-साहस एवं दिव्य गति-लीला-मार्ग-साधन-ज्ञानपूर्ण विस्मयकारी सुयश का वर्णन कर हम श्रीनिम्बार्कियों का परम उपकार किया है।

श्रीनिम्बार्कप्रभु की कलित कीर्तिमय विजय-रत्नावली 'श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति' के भावपूर्वक पठन-पाठन से जिस अलभ्य-अचल-सुख-संपदा की प्राप्ति होती है, उसका विवेक पाठकों को ग्रन्थकार के इन वचनों (नि.वि.श्लो. २१६ से २१९) से ही हो जायगा-

“श्रीनिम्बार्क प्रभु की विजय-रत्नावली को जो कोई प्रातः-मध्य-सायं में स्वाध्याय कर कण्ठ में धारण करेगा, वह सज्जन इसी लोक में श्रीराधाकृष्ण प्रभु का परमप्रिय अनन्यभक्त बन जायगा।”

“अपने पूर्वाचार्यों को भजने वाले महात्माओं-साधकों की सभा के मध्य श्रीनिम्बार्क उत्कर्ष प्रकटकारी इस विक्रान्ति का यथाबुद्धि व्याख्यान करेगा, वह अज्ञ भी हो तो, विद्वान् मुकुटमणि बन जायगा तथा जो जन इसकी कथा करेगा वह निजाराध्य श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु का ध्यान कर आनन्दानुभव करेगा।”

“जो स्वधर्मनिष्ठ इस ग्रन्थ को आदि से अन्त पर्यन्त अध्ययन करके हमारे कथन का यथार्थ तत्त्व (सार) निकाल कर मन में धारण करेगा, वह भक्त जैसे नदी के तट सदैव उसी के निकट रहते हैं, वैसे ही रससरिता-स्वरूप श्रीश्यामाश्याम के पार्श्वभाग में स्थित रहकर श्रीरंगदेवी सखी की भाँति अहर्निश श्रीयुगल-दर्शन करता रहेगा और सकल सांसारिक बंधनों से विमुक्त होकर प्रतिक्षण सखीवृन्द मध्यस्थ श्रीराधामाधव प्रभु के मधुर नामों का संभाषण करता रहेगा।

श्रवण मात्र से ही श्रोताओं की चित्त-वाटिका को प्रफुल्लित करने वाला यह ग्रन्थरत्न वि.स. १९९८ ई. सन् १९४१ के दीर्घकाल पश्चात् पुनः प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ प्रकाशन की महत् सेवा करने वाले हैं श्रीनिम्बार्क-मत परायण, श्रीराधाकृष्ण निष्ठ, साहित्यादि सेवाओं में सदैव तत्पर भक्तप्रवर श्री श्रीराम-श्रीश्याम बेरीवाला (श्रीवृन्दावन-कोलकाता)। ऐसे सेवाभावी भक्तों का श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु सर्व विध मंगल करें, इसी कामना के साथ-

जयकिशोरशरण

सम्पादक: “श्रीसर्वेश्वर” मासिक पत्र

श्रीजी की बड़ी कुञ्ज, वृन्दावन

।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ।।

सखिजनसेवित निकुञ्जविहारी श्रीश्यामा-श्याम

।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते।।

श्रीआचार्य पंचायतन

।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते।।
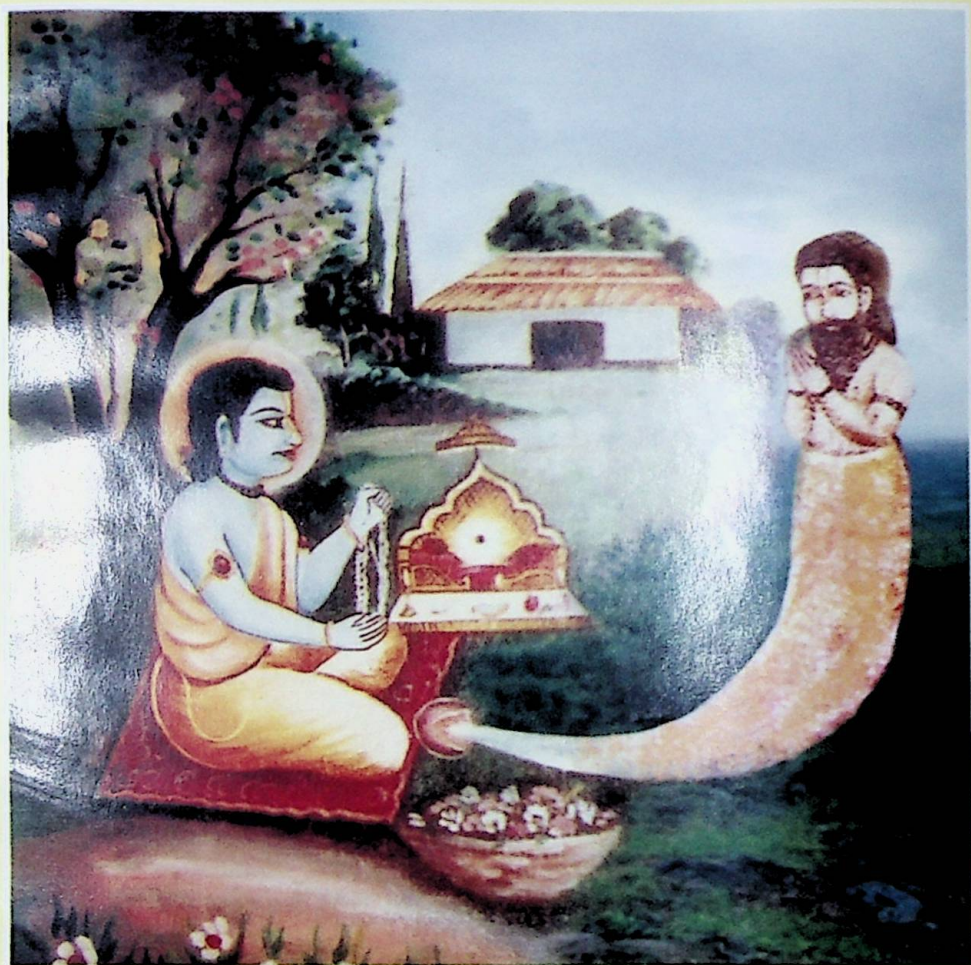
औदुम्बर वृक्ष तल में सेवारत श्रीनिम्बार्कप्रभु के चरणस्पर्शित
औदुम्बर (गूलर) फल से प्रकट ऋषि श्रीऔदुम्बराचार्य जी

।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ।।
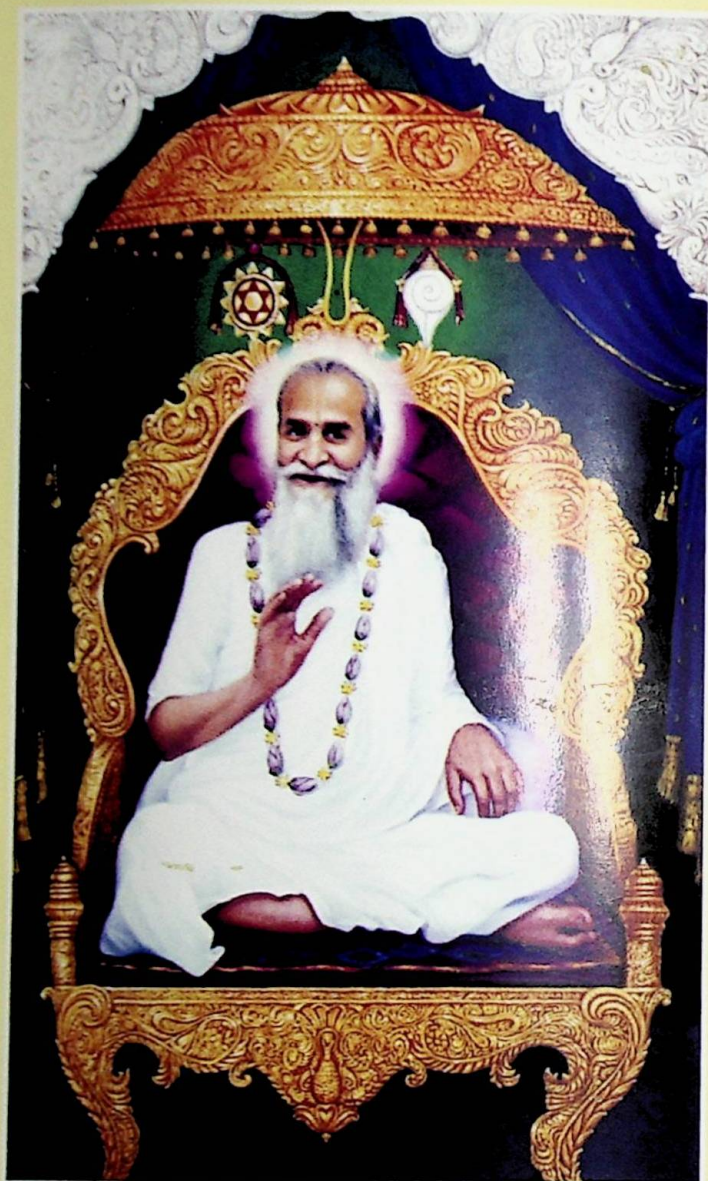
नित्यनिकुञ्ज लीलालीन अनन्तानन्त श्रीविभूषित
जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर
श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज

भूमिका

श्रीसर्वेश्वर की इच्छा से अभिव्यक्त होने वाले इस विश्व में अनन्त प्रकार की वस्तुयें गुप्त, प्रकट रूप से निहित हैं, परन्तु उनकी कृपा के बिना किसी भी प्राणी को कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती, हाँ, जब विश्वम्बर श्रीसर्वेश्वर प्रभु की यत्किञ्चित् भी जिस प्राणी पर कृपा-कटाक्षमयी शुभ दृष्टि हो जाती है, तब उस प्राणी को अनायास ही अनुपम वस्तुओं की सम्प्राप्ति हो सकती है। यह पूर्ण निश्चिय है।

ग्रन्थ परिचय--

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यो द्वारा रचे हुए अनेक ही साधारण और असाधारण ग्रन्थ-रत्न सुने जाते हैं, जिनमें से एक यह *"श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति"* भी असाधारण ग्रन्थ रत्न है, कारण इसके रचयिता ने गुणानुसार ही इसका नाम निर्देश किया है।

जैसे स्वल्पकाय होते भी प्रसिद्ध रत्न विविध गुण सम्पन्न एवं बहु मूल्य होते हैं, वैसे ही २२० श्लोकों वाला यह स्वल्पकलेवर ग्रन्थ भी बहुत से चरित्रों और साम्प्रदायिक सिद्धान्त को प्रकाशित करने वाला है, अतएव सभी विद्वज्जनों की एक सुन्दर उपादेय वस्तु है।

ग्रन्थकार परिचय--

श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति के आरम्भ में "औदुम्बरो जातुचिदाकरोमि" इस द्वितीय श्लोक से तथा ग्रन्थ की समाप्ति में "औदुम्बरेणेति विनिर्मिता श्री" इस अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीऔदुम्बर ऋषि ही हैं, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी के द्वितीय शिष्य थे, इनके रचे हुये औदुम्बर-संहिता आदिक और भी कई साम्प्रदायिक ग्रन्थ मिल रहे हैं।

श्रीऔदुम्बराचार्य कब और कैसे प्रकट हुए थे? यह प्रश्न भी इसी 'श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति' ग्रन्थ के ९० और ९१ श्लोकों से हल हो जाता है, अर्थात् जिस समय एकान्त स्थल में एकाकी, श्रीसर्वेश्वर प्रभु की आराधना करते हुए श्रीनिम्बार्काचार्यजी पर अविद्या ग्रसित खल समूह ने आक्रमण किया था, उस समय जिस गूलर के वृक्ष के नीचे आचार्य भगवत्सेवा कर रहे थे उसी गूलर का एक फल आचार्य के चरणों के सन्निकट आगिरा और चरण–नख से स्पर्श होते ही वह फल एक दिव्य आकृति और अमित प्रभापूर्ण श्रीनिम्बार्काचार्यजी के सदृश ही गुण रूपवान् सुन्दर पुरुष के रूप में प्रकट हो गया, वही श्रीऔदुम्बराचार्य कहलाए। इस चमत्कार को देखकर खलों का समूह भयभीत हो ऐसे अदृश्य हो गया जैसे कि सूर्य के उदय होते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है।

इसी ग्रन्थ के श्लोकों से यह भी अभिव्यक्त होता है, कि जब खल–समूह ने श्रीनिम्बार्काचार्यजी के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, उस समय भी श्रीऔदुम्बराचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् के उस अद्भुत प्रभाव का अनुभव कर रहे थे, एवं समस्त पृथ्वीमण्डल पर पर्य्यटन एवं दिग्विजय कर श्रीनिम्बार्काचार्य पुन: अपने परम प्रिय श्रीव्रजधाम में पधार आये, तथा श्रीरंगदेवी के स्वरूप से श्रीराधाकृष्ण के सन्निकट आ विराजे थे, उस समय में भी श्रीऔदुम्बराचार्य आचार्य चरणों के समीप विद्यमान थे। अतएव जिन–जिन लीलाओं का उनको अनुभव हुआ था, उन–उन लीलाओं का ही इस ग्रन्थ में उन ने ग्रन्थन किया है। अत: कूर्म–योनि छुड़ाकर मातंग ऋषि को दिव्य योनि प्रदान करना आदिक श्रीनिम्बार्काचार्यजी के अननुभूत चरित्रों का इसमें समावेश नहीं किया।

यद्यपि श्रीऔदुम्बराचार्यजी की जन्मतिथि तथा मास वर्ष एवं आयु और जीवनी का विशिष्ट पता नहीं लग सका है, कारण आचार्य उत्सव उन्हीं आचार्यें का मनाया जाता है, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्य के

अनन्तर पीठासीन होते आये हैं, श्रीऔदुम्बराचार्य पीठ पर आरूढ नहीं हुए * अत: उनकी जन्मोत्सव तिथि का अभी तक पता नहीं चल सका, तथापि इसी ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि श्रीऔदुम्बर ऋषि अयोनिज थे, अर्थात् श्रीनिम्बाकाचार्य के तेज:पुंज का ही एक विशेष अंश थे। अतएव बिना ही अध्ययन किये भी निखिल निगमागम के पूर्ण वेत्ता और प्रतिक्षण आत्म–परमात्म आदि तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाले थे, यह मन्तव्य श्रीनिम्बार्क–विक्रान्ति के १४५ से १४७ तक के श्लोकों से ज्ञात होता है। श्रीऔदुम्बर ऋषि का जिस प्रकार आविर्भाव सहसा हुआ था वैसे तिरोभाव नहीं हुआ, अपितु बहुत समय तक श्रीनिम्बार्क भगवान् की सेवा में रहने के अनन्तर उनका तिरोधान हुआ है।

श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने प्रतिमा–पूजन–प्रणाली की सुदृढ़ता के लिये कई मन्दिरों की भी संस्थापना की थी, जिनमें से कुरुक्षेत्र के सन्निकट 'पपनावा' नामक ग्राम में एक मन्दिर अभी तक भी विद्यमान है, यह मन्दिर यद्यपि आचार्यपीठ नहीं माना जाता, तथापि साम्प्रदायिक मन्दिरों में एक अत्यन्त प्राचीन मन्दिर माना जाता है।

इसकी सेवा–पूजा पूर्वकाल से दाक्षिणात्य ब्राह्मण वंशज विरक्त श्रीनिम्बार्क–सम्प्रदाय के अनुयायी महात्मा ही करते आये हैं, अब कुछ दिनों से उसकी परिस्थिति कुछ शोचनीय सी हो गई है। सेवा पूजा भी दाक्षिणात्यों के हाथ से तद्देशीय विरक्त महात्माओं के हाथ में आ गई है।

---

* नोट– लगभग पचास वर्ष हुए मैं पैदल ही भ्रमण करते हुए 'पपनावा' गया था, जब वहाँ दाक्षिणात्य पुजारी थे। आस–पास के उस स्थान के शिष्य वर्ग 'पपनावा' को आचार्यपीठ कहते थे। और उस प्रदेश के इस सम्प्रदाय के स्थानधारी उस पीठ के अधिष्ठाता का आचार्यश्री के ही समान भेट–पूजा से सम्मान करते थे। "किशोरीदास"

रचनाकाल–

जब श्रीऔदुम्बराचार्यजी का समय श्रीनिम्बार्काचार्यजी के समकालीन निश्चित हो जाता है, तब इस ग्रन्थ का रचना काल भी वही अवधारित होगा, जोकि श्रीनिम्बार्काचार्यजी की विद्यमानता का समय है। यद्यपि श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति की तीन प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें किसी में भी ग्रन्थ रचना का समय नहीं मिलता। दो प्रतियाँ जोकि बींसवी शताब्दी में लिपि की हुई हैं, उनमें केवल लेखक ने अपने लिखने का समय मात्र लिख दिया है, किन्तु उन तीनों में जो एक ग्रन्थ लगभग ४०० वर्ष पूर्व का लिखा हुआ प्रतीत होता है, उसमें लेखक ने भी अपने लिखने का समय नहीं लिखा है। इन तीनों पुस्तकों में कहीं विशेष पाठ-भेद नहीं मिलता, केवल बींसवी शताब्दी में लिखी हुई पुस्तकों में कई जगह मात्राओं का भेद अवश्य मिलता हैं, परन्तु ये दोनों पुस्तकें उतनी शुद्ध नहीं, जितनी कि वह पुरानी पुस्तक शुद्ध है। इस पुस्तक को देखकर कईएक वर्तमान समालोचकों ने अपनी ऐसी दृढ़ धारणायें प्रकट की हैं कि यह ग्रन्थ पुराणों की रचना के समय में रचा गया है। कारण प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों की तुलना करने से यह निश्चित हो गया है कि प्राचीन काल में रचे हुए ग्रन्थों में अधिकतर सादापन एवं सक्षिप्ततर होना और अलंकार तथा छन्दों की अधिकता न होना इत्यादि बातें पाई जाती हैं, और आधुनिक ग्रन्थों में छन्दों की विविधता एवं अलंकारों की बाहूल्यता तथा पूर्वकालीन कवियों पर कटाक्षता आदिक बातें मिलती हैं। उदाहरण के लिये प्राचीन ग्रन्थों में उपनिषद्, पुराण, भारतादि इतिहास तथा सूत्र-ग्रन्थ देखने चाहिये, और आधुनिक ग्रन्थों में रस गङ्गाधरादिक काव्य ग्रन्थ तथा १६ वीं-१७ वीं शताब्दी के विद्वानों के रचे हुए प्रकीर्ण ग्रन्थ तथा टीका ग्रन्थ देखने चाहिये।

इस ग्रन्थ की रचना में प्राचीनता प्रकट करने वाला एक यह भी अवाधित हेतु है कि जैन-बौद्ध मतों के नामों की भाँति शाँकर आदिक

किसी मत का इसमें नाम निर्देश नहीं मिलता, जिससे कि उस विद्वान् से उस ग्रन्थ की अर्वाचीनता मानी जाय, हाँ–पातञ्जलि आदि कुछ सूत्रकारों के नाम अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनके नामों से इस ग्रन्थ की प्राचीनता नहीं मिटती, कारण वे सूत्रकार तो पाँच हजार वर्षों से भी कहीं अधिक प्राचीन हैं। अतः प्रत्येक साम्प्रदायिक को चाहिये कि इसको विधिपूर्वक पठन–पाठन के उपयोग में लेकर अनुपम लाभ उठावें।

विशेषतायें–

१– यह ग्रन्थ श्रीनिम्बार्काचार्यजी के उन चरित्रों को अभिव्यक्त करता है, जिनसे कि प्रायः बहुत से विद्वान् भी अपरिचित थे। क्योंकि श्रीनिम्बार्काचार्यजी के 'निम्ब पर सूर्य दिखाना' एक इस आश्चर्यमय चरित्र की ही गाथा विद्वानों को सुलभता से प्राप्त हो जाने पर वे प्रमुदित हो जाते थे, अतएव दूसरे–दूसरे चरित्रों की गाथा के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते थे।

२– इस ग्रन्थ में इन्द्र वज्राछन्द के अतिरिक्त किसी दूसरे छन्द का समावेश नहीं हुआ है; एवं आरम्भ और समाप्ति का निर्देश भी छन्दोवद्ध रूप से ही किया गया है।

३– यह ग्रन्थ जैसे क्लिष्ट पदों से पूर्ण है, वैसे ही अर्थ गम्भीरता से भी ओत–प्रोत है।

४– विराट्स्वरूप दिखलाना और नदी प्रकट कर उसका संशोषण करना आदिक श्रीनिम्बार्क भगवान् के चतुर्दश चमत्कारों का इस ग्रन्थ में बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।

५– यह ग्रन्थ आद्योपान्त स्तुतिमय होने पर भी इतिहास और सिद्धान्त का दिग्दर्शन करा रहा है।

६- जिस प्रकार श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने अपने भाष्यादि ग्रन्थों में किसी भी मत-मतान्तर के खण्डन की चर्चा न करके, केवल अपने सिद्धान्त का ही द्योतन किया है, उसी प्रकार श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने भी इस ग्रन्थ में किसी मतमतान्तर का खण्डन नहीं किया और वैष्णव सिद्धान्त के प्रतिपक्षी श्रीशंकराचार्य आदिक बादी आचार्यों का नामोल्लेख भी नहीं किया है। उपरोक्त दोनों हेतु इस ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध करते हैं।

रसिक सरणि का वर्णन और समस्त अवतारों की उपमाओं की श्रीनिम्बार्काचार्यजी के चरित्रों से तुलना इस ग्रन्थ में सुन्दर रीति से की गई है।

ग्रन्थोपलब्धि–

यद्यपि-यह निसंदिग्ध रूपेण निश्चित हो चुका है कि यह ग्रन्थ श्रीनिम्बार्काचार्यजी के विद्यमान समय में उनके मुख्य शिष्यों में से एक शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यजी के द्वारा रचा गया है, अतएव आज से लगभग पाँच हजार वर्षों से भी पहिले का यह ग्रन्थ बना हुआ है।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी का समय आज से पाँच हजार वर्ष पूर्वकालीन है-इसकी विशद विवेचना-"समय समीक्षा" में देखनी चाहिये। तथापि इस्लामी शासन में भारतीय ग्रन्थों की दुर्गति और संस्कृत विद्या की उपेक्षा के कारण यह ग्रन्थ लुप्त प्राय: हो रहा था, अतएव मुद्रण कला के प्रचार होने पर साम्प्रदायिक ग्रन्थों को प्रकाशित करवाने वाले विद्वानों को भी यह ग्रन्थ नहीं मिल सका। कदाचित् किसी विद्वान् को दृष्टि-गोचर हुआ भी होगा तो संक्षिप्तता एवं कठिनता और आदि अन्त में ग्रन्थ का पृथक् नाम निर्देश न मिलने के कारण उस विद्वान् ने इस पर पूर्ण ध्यान नहीं दिया होगा।

अथवा आचार्यों के रचे हुए साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख न मिलने से किसी की रुचि इस पर अधिकतर न हुई होगी-ये सब

कल्पनायें विक्रम की १६ वीं--१७ वीं शताब्दी के अनन्तर इधर होने वाले विद्वानों के विषय में की जा सकती हैं। १५ वीं शताब्दी के विद्वानों के विषय में नहीं कर सकते, कारण इस ग्रन्थ की जो ४-५ शताब्दी पूर्व की लिखी हुई मूलप्रति हमें उपलब्ध हुई है, उससे पता चलता है कि- उस समय में ग्रन्थ की पूर्ण चमत्कृति थी और साम्प्रदायिक विद्वान् इसको अपना सर्वस्व समझकर इसका नित्य पाठ किया करते थे, क्योंकि इसमें श्रीनिम्बार्क भगवान् की आश्चर्यमयी स्तुति हैं। अत: उस जमाने में इसी स्तोत्र से बहुत से तान्त्रिक प्रयोग भी किया करते थे, जिससे कोई प्रतिलिपि नहीं करने पाता था। हाँ! बहुत-सी सेवा करने पर यदि प्रसन्नता हो जाती तब कोई किसी को भले ही बतला देता हो, अन्यथा गुप्त ही रखते थे, क्योंकि यन्त्र मन्त्रादि जितने गुप्त रूप से रहते हैं, उतने ही अधिक फल देते हैं।

इन ३-४ शताब्दियों में श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय की योग-विद्या और तन्त्रविद्या का बहुत कुछ ह्रास हो गया है एवं संस्कृत-विद्या का अनुराग भी बहुत कम हो गया है, इसी कारण से ग्रन्थ-रत्न की रही-सही प्रतियाँ भी अटालों के अन्दर डाली गईं, अत: इस बीसवीं शताब्दी के जागृति कालीन साम्प्रदायिक विद्वानों को यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका।

अलवर राजकीय लाईब्रेरी में एक जर्मन लाइब्रेरी का सूची पत्र है, उससे पता चलता है कि जर्मन पुस्तकालय में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के ३५ ग्रन्थ भारत से गये हुए हैं।

बहुत से विद्वान् हताश हो चुके थे कि जो कुछ साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज तक मिल चुके उतने ही साम्प्रदायिक ग्रन्थ भारत में थे- अब और कोई ग्रन्थ यहाँ नहीं दीखता और जो कुछ हैं सो सब जर्मन में ही जा पहुँचे। वर्तमान साम्प्रदायिक परिस्थिति के देखने से अब उन का भी प्राप्त होना दुष्कर है, किन्तु कुछ विद्वानों को फिर भी यह धारणा

बनी हुई थी कि खोज करने से श्रीनिम्बाकाचार्यपीठ परशुरामपुरी (स्थान सलेमाबाद) के पुस्तकालय में सम्भवत: बहुत से प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हो सकेंगे, क्योंकि इस सम्प्रदाय में वही एक सर्वमान्य आचार्यपीठ और ग्रन्थों की आकर है, यदि वहाँ पर प्राप्त नहीं हो सकें तब कोई अन्य उपाय करना उचित है। दैववशात् वि० सं० १९९६ में बनारस से श्रीवृन्दावन धाम में मेरा आना हुआ और कुछ दिनों तक जयपुर की महाराणी साहिबा श्रीभट्याणीजी की बनाई हुई– श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ के आधीन–वृन्दावनस्थ "श्रीजी की बड़ी कुञ्ज" में ठहरने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसी अवसर पर यहाँ के जीर्ण ग्रन्थों का अन्वेषण करने से "ख्यातिवाद, वादिभूषण, वीसायन्त्र, श्रीनिम्बार्क–तत्त्व निर्णय तथा कुछ फुटकर उपनिषद् और व्रज पर श्रीनिम्बार्क–सम्प्रदाय के आधिपत्य सम्बन्धी व्रजवासियों के पुराने लेख आदि कईएक ग्रन्थरत्नों के साथ–साथ यह ग्रन्थरत्न भी दृष्टिगोचर हुआ, तब जीर्ण–शीर्ण और सड़े हुए पत्रों में से इस ग्रन्थ को पृथक् कर सुरक्षित रूप से अपने पास में रख लिया, एवं दूसरे ग्रन्थ भी जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सके हैं। वे भी सुरक्षित रूप से पृथक् रख लिये गये।

अनुवाद–

जब मैं वृन्दावनस्थ 'श्रीजीकुञ्ज' में प्राचीन ग्रन्थों का अन्वेषण करने लगा, तब कईएक श्रीधाम निवासी वृद्ध सज्जन विद्वान् एवं सन्त–महात्मा वहाँ आने–जाने लगे और दर्शन प्रदान कर अनुगृहीत करने लगे और कुशल प्रश्न आदि यथोचित भाषणादि के अनन्तर, आत्मोदेद्श्य को श्रवण कर सन्तुष्ट होने लगे एवं मेरे ग्रन्थ अन्वेषण रूपी प्रयास की प्रशंसा करने लगे।

उन्हीं दिनों में साम्प्रदायिक ग्रन्थों के प्रकाशन में ही अपना जीवन व्यतीत करने वाले और हृदय से श्रीनिम्बार्क–सम्प्रदाय की सेवा करने वाले बाबा श्रीरामचन्द्रदासजी भी प्रतिदिन आने–जाने

लगे। जब उनको ग्रन्थान्वेषण की खबर हुई, तब उनने विनम्र आग्रह किया कि इनमें से कोई प्राचीन और उत्तम उपादेय साम्प्रदायिक ग्रन्थ प्रकाशित करवाने के लिये मुझको मिल जाना चाहिये, ताकि मैं उसको प्रकाशित करवा दूँ। क्योंकि अब इस जीर्ण–शीर्ण शरीर का कोई विश्वास नहीं है जो कुछ साम्प्रदायिक सेवा बन जाय वही हितकर है। इस सद्भावना के अनुसार, ख्यातिवाद, निम्बार्क–विक्रान्ति, स्वधर्म दीपिका, आदि प्रकाशित करवाने योग्य ४–५ ग्रन्थ मैंने बाबा को दिखाये। उन सभी में सर्वप्रथम "विक्रान्ति" का प्रकाशित होना मैंने उचित समझा और बाबा से भी अपनी यह सम्मति प्रकट कर दी।

वयोवृद्ध पं० श्रीकिशोरदासजी ने श्रीनिम्बार्क–विक्रान्ति की भाषा टीका बनवाकर प्रकाशित कराने की अनुमति प्रकट की तदनुसार बाबा श्रीरामचन्द्रदासजी ने प्रकाशित करवाने का निश्चय कर लिया, परन्तु शीघ्र और अनुकूलता–पूर्वक किसी अनुवादक के मिलने से इस ग्रन्थ का भाषानुवाद बनाने के लिये भी बाबा ने मुझसे ही आग्रह किया।

मुझको उनकी इच्छानुसार शीघ्र ही अनुवाद कर देने का अवकाश नहीं था, अतः उनने यथावकाश अनुवाद करने का आग्रह किया, क्योंकि उनको कोई अनुकूल अनुवादक नहीं मिल सका। ऐसी परिस्थिति में मुझको इसका अनुवाद करने के लिये स्वीकार करना पड़ा। किन्तु जब भाषानुवाद करना आरम्भ किया तभी से अनेक अन्यान्य कार्य उपस्थित हो गये और अस्वस्थता भी बहुत बढ़ गई।

अपरिचितता के कारण सम्प्रदाय के इतिवृत्त से अनभिज्ञ विद्वान् तो इसमें सहयोग कहाँ से दे सकते थे, किन्तु जटिलार्थ होने से साम्प्रदायिक विद्वानों ने भी इसमें विशेष भाग नहीं लिया, समयाभाव के कारण उपमाओं के उदाहरणार्थ द्रष्टव्य पुराणों का भी अवलोकन नहीं किया गया, साम्प्रदायिक मर्यादा पालक वयोवृद्ध विद्वानों का

यह पूर्ण अनुरोध रहा कि जहाँ कहीं अर्थ की संगति नहीं बैठ सके अथवा कोई पद अशुद्ध प्रतीत हो, वहाँ पर भी पाठ का परिवर्तन नहीं किया जाय, ऐसी असमञ्जसता में लगभग एक वर्ष व्यतीत हो चुका, मात्र ७०-८० श्लोकों का ही भावार्थ लिखा गया। उस भावार्थ को देखकर कईएक वयोवृद्ध विद्वानों ने अन्वयार्थ कर देने के लिये और आग्रह किया, उधर बाबा श्रीरामचन्द्रदासजी ने शीघ्र तैयार कर देने के लिये विनीतानुरोध करना आरम्भ कर दिया। मुद्रण सम्बन्धी वस्तुओं की तेजी की ओर भी ध्यान जाने लगा, इन सब कारणों से शीघ्र ही यथा शक्य अन्वयार्थ और भावार्थ की पूर्ति कर देनी पड़ी।

यह तो मानी हुई बात है कि चाहे कैसा भी सरल काव्य क्यों न हो, उसके वास्तविक भाव को तो वही कवि जान सकता है, जिसने की भावार्थ को बुद्धि में जमाकर उस काव्य की रचना की है। यद्यपि दूसरे विद्वान् अपने पांडित्य के वल से चाहे उसके सहस्त्रों अर्थ कर दें तथापि जिस भाव की कल्पना से जो कविता रची गई होगी उस भाव को तो उसका निर्माता ही जान सकेगा, हाँ, यदि कोई विद्वान् कभी किसी काव्य के वास्तविक भाव तक पहुँचा है, तो वह अन्तर्यामी श्रीसर्वेश्वर प्रभु की कृपा के बल से ही पहुँचा है, नाकि केवल अपनी बुद्धि के बल से। अतएव इस 'श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति' के भी वास्तविक भाव को इसके रचयिता ही जान सकते हैं, अथवा जिनने साक्षात् उनसे ही इसका अध्ययन किया हो, अथवा जिन सज्जनों के हृदय में उनके परम सेव्य श्रीनिम्बार्क भगवान् प्रकाश कर दें, वे ही महानुभाव जान सकते हैं, अन्यथा वास्तविक भाव तक पहुँचना दुष्कर ही है।

क्योंकि मुख्य और गौण इन दोनों वृत्तियों के भेद से प्रत्येक पद के अनेक अर्थ ध्वनित हुआ करते हैं, उस समय अनुवादक उलझ जाते हैं कि इस पद का कौन-सा वास्तविक अर्थ माना जाय, ऐसी परिस्थिति में उनसे एक अर्थ नहीं लिखा जा सकता। अपितु जितने अर्थ प्रतीत हों, वे सभी प्रकटित कर देने पड़ते हैं।

यद्यपि इस श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति के बहुत से श्लोक अनेकार्थ द्योतक हैं, तथापि हमने श्रीआचार्य-चरणों की प्रेरणा के अनुसार एक-एक प्रकार के ही भावार्थ को लिखना उचित समझा। आचार्य पाद की कृपा के बल से भविष्य में यदि कोई विद्वान् इस ग्रन्थ पर और भी कुछ विशेष प्रकाश डालना चाहें, वे डाल सकेंगे।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के अद्वितीय विद्वान् पं० श्रीअमोलकराम शास्त्री का आग्रह था कि इसकी संस्कृत टीका भी कर दी जाय, परन्तु समयाभाव से वह नहीं हो सकी। शीघ्रता वश अन्वयार्थ सहित भाषा टीका ही तैयार की गई है।

इसके संशोधन में व्याकरण साहित्याचार्य पं० श्रीतेजोनारायणजी शास्त्री ने भी प्रसंशनीय सहयोग दिया है, अतः वे भी धन्यवादार्ह हैं। तथा चिरंजीवि राधावल्लभ तिवारी ने भी इसी पुस्तक की प्रेस के योग्य शुद्ध कॉपी तथा समय-समय पर पत्रादि लिखकर हमें विशेष सहायता पहुँचाई है, एतदर्थ हम उसको भी हृदय से धन्यवाद देते हैं।

अन्त में सभी विद्वानों के प्रति विनम्र भावेन यह निवेदन किया जाता है कि श्रीआचार्य महाप्रभु की कृपा से ही यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ, और उन्हीं की कृपा से भाषाटीका रची गई है। अतः इसमें जो कुछ उत्तमता प्रतीत हो, उसको स्वीकृत करें, और जहाँ कहीं कुछ त्रुटि प्रतीत हो उसको क्षमापूर्वक सुधारने की कृपा करें। क्योंकि मानवी बुद्धि से भूलें होही जाती है, परन्तु सज्जनजन उन भूलों में से भी अभीष्ट सार वस्तु ग्रहण कर लेते हैं, जैसे कि हंस पानी में मिले हुए दूध को निकाल लेता है।

मार्गशीर्ष शुक्ला १५ बुधे
श्रीनिम्बार्काब्द ५०३६
वि० सं० १९९८

अनुवादक :
व्रजवल्लभशरण
वेदान्ताचार्य
पञ्चतीर्थ

विषय-सूची

॥ इति श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति विषय सूची ॥

॥ समाप्तिः ॥

॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

- अथ -

अनादि-वैदिक-सत्सम्प्रदाय-प्रवर्तक-निखिलमही-मण्डलाचार्य
चक्रचूड़ामणि श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रपादपद्म-
मकरन्द मधुप श्रीमद्औदुम्बर ऋषि प्रणीत-

श्रीनिम्बार्क-विक्रान्तिः

कुलकम्

श्रीकृष्णमैतिह्यनिदानमूलं वैरंच्यमुख्याँश्च मुकुन्दशिष्यान्।
देवर्षिवर्य्यं च कुमारशिष्यं निम्बोष्णगुं नारदशिष्यमुख्यम्॥१॥
नत्वा भविष्णून्★ भगवत्प्रपन्नान् श्रीश्रीनिवासप्रमुखान् विशिष्टान्।
निम्बार्कविक्रान्तिसुरत्नराजीमौदुम्बरो जातु चिदाकरोमि॥२॥
दृष्टान्तनिर्देशसुयुक्तिसाम्यां काम्यां सदाचार्यपरंपरास्थैः।
श्रीश्रीनिवासप्रचितोस्त्ररत्नैः स्वाचार्यकर्षाग्रहडोरकेण॥३॥
सद्भक्तसौहार्दकसूचकेन स्वैतिह्यनिष्ठेष्ट विभूषणाय।
निम्बार्कपत्स्पर्शनमात्रतो यश्चानृण्यकारी समितः सुसाम्यम्॥४॥

श्रीमद्धंसकुमारनारदपदान् निम्बार्कपादं पुनः।
सर्वान् द्वारपपीठपान् परशुरा-माचार्यपादादिकान्॥
श्रीनारायणमात्मदैशिकपदान्नत्वा सतां मोदिनी।
विक्रान्तेर्व्रजवल्लभार्यविदुषा भाषा सुधेयं तता॥१॥

यः (जो) निम्बार्कपत्स्पर्शनमात्रतः (श्रीनिम्बार्क भगवान् के चरणों के स्पर्श मात्र से) सुसाम्यं (समान रूप आकृति को) समितः (प्राप्त हो गया) 'वही' आनृण्यकारी (उनके उपकारों की उऋणता चाहने वाला) औदुम्बरः (मैं औदुम्बराचार्य) ऐतिह्यनिदानमूलं

★ मूलपुस्तकेऽत्र "भविष्यान्" इतिपाठः।

(पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले समस्त सिद्धान्तों के कारणरूपों वेद को प्रकट करने वाले) श्रीकृष्णम् (हंसावतारधारी श्रीकृष्ण को) च (और) वैरञ्च्यमुख्यान् (ब्रह्मा के मानस पुत्र) मुकुन्दशिष्यान् (हंसावतारधारी श्रीमुकुन्द भगवान् के शिष्य) च (और) कुमारशिष्यम् (श्रीसनकादिकों के शिष्य) देवर्षिवर्यं (श्रीनारदजी को) नारदशिष्यमुख्यम् (नारदजी के शिष्यों में मुख्य) निम्बोष्णगुम् (श्रीनिम्बार्क भगवान् को) भविष्णून् (आगे आचार्य पद पर आरूढ़ होने वाले) श्री श्रीनिवास प्रमुखान् (श्रीनिम्बार्क परम्परान्तर्गत श्री श्रीनिवासादिक विशिष्टान् (श्रद्धेय) भगवत्प्रपन्नान् (भक्ति प्रपत्तियोग के आचार्यों को) नत्वा (नमनकर) स्वैतिह्यनिष्ठेष्टविभूषणाय (अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय के परमोपास्य सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण को पहिनाने के लिये) सदाचार परम्परास्थैः (सत्सम्प्रदाय परम्परान्तर्गत महानुभावों द्वारा) काम्यां (अभिवाञ्छित) (श्रीश्रीनिवासाचार्य विरचित दिव्य स्तोत्र रत्नों के द्वारा) सद्भक्त सौहार्दक सूचकेन (सज्जन भक्तों के हार्दिक भावरूपी सुई से) स्वाचार्य कर्षाग्रह डोरकेण (अपने आचार्य की आकर्षकता से उद्भूत होने वाले प्रेमरूपी डोरे (तार में) दृष्टान्तनिर्देश सुयुक्ति साम्यां (दृष्टान्त, संकेत और सुन्दर युक्तियों को प्रकट करने वाली) श्रीनिम्बार्क-विक्रान्तिसुरत्नराजीम् (श्रीनिम्बार्क भगवान् की विजय वैजयन्ती को) जातुचित् (आज ऐसे सुन्दर समय में) आकरोमि (गूँथ रहा हूँ) ॥१॥२॥३॥४॥

सदाचार पालन के लिये श्रीऔदुम्बराचार्यजी अपने परमोपास्य श्रीइष्टदेव और श्रीमद्गुरुदेव की वन्दना द्वारा नमस्कारात्मक मंगल करते हैं--जो श्रीनिम्बार्क भगवान् के चरणों के स्पर्श-मात्र से श्रीनिम्बार्क महाप्रभु के समान ही रूप और आकृति वाला बन गया, वही मैं औदुम्बराचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य कृत उपकारों से उऋण होने की कामना से, पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले समस्त सिद्धान्तों के कारणरूप वेद को प्रकट करने वाले हंसावतारधारी श्रीकृष्णचन्द्र और ब्रह्मा के मानस पुत्र एवं हंसावताधारी श्रीकृष्ण के

शिष्य सनकादिकों को तथा उन सनकादिकों के शिष्य श्रीनारदजी को एवं श्रीनारदजी के प्रमुखशिष्य श्रीनिम्बार्क भगवान् को और भविष्य में होने वाले श्रीनिवासाचार्य आदिक अनन्य भक्तियोग के श्रद्धेय आचार्यों को नमस्कार कर, अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय के परमोपास्य सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण को पहिनाने के लिये श्रीश्रीनिवासा-चार्य विरचित दिव्य स्तोत्र रत्नों के द्वारा सज्जन भक्तों के हार्दिक भावरूपी सुई से और अपने आचार्य प्रभु की आकर्षकता से उद्भूत होने वाले प्रेमरूपी डोरे से आज ऐसे सुन्दर समय में सत्सम्प्रदायवर्ति महानुभावों द्वारा अभिवाञ्छित दृष्टान्त संकेत और सुन्दर युक्तियों को प्रकट करने वाली श्रीनिम्बार्क भगवान् की विजय वैजयन्ती को (मैं) गूँथ रहा हूँ ॥१ ॥२ ॥३ ॥४ ॥

मत्स्याय कूर्मार्य वराहभासे, श्रीनारसिंहाय च वामनाय।
आर्षाय रामाय रघूत्तमाय भूयो नमस्त्वेव यदूत्तमाय ॥५ ॥
वुद्धाय वै कल्किन एवमादिनानावतारौघधराय नित्यम्।
सच्चिन्त्यशक्तिप्रतिरुद्धधाम्ने कृष्णाय सर्वादिनिधानधात्रे ॥६ ॥

मत्स्याय (मत्स्यावतारी) कूर्माय (कच्छपावतारी) वराहभासे (वराह अवतारी) श्रीनारसिंहाय (नृसिंहावतार) वामनाय (वामन) आर्षाय (परशुराम) रघुत्तमाय (रघुनन्दन) यदुत्तमाय (यदुनन्दन) रामाय (बलराम) वुद्धाय (बुद्ध) कल्किने (कल्कि) एवमादिनाना-वतारौघधराय (इत्यादि अनन्त अवतार समूह को धारण करने वाले) सच्चिन्त्य शक्ति प्रतिरुद्धधाम्ने (विद्वज्जन विचिन्त्य अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा परम गूढ़ महिमा वाले) सर्वादिनिधान धात्रे (शंकर, ब्रह्मा आदि देवों की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाले) कृष्णाय (भगवान् श्रीसर्वेश्वर कृष्णचन्द्र के लिए) एव (ही) नमः (नमस्कार) अस्तु (हो) ॥५ ॥६ ॥

श्रीमत्स्य, श्रीकूर्म, श्रीवाराह, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीपरशुराम, श्रीदाशरथीराम, श्रीबलराम, श्रीबुद्ध, श्रीकल्कि आदि अनन्त अवतारों

के उद्गम स्थान एवं विद्वज्जन विचिन्त्य अपनी अद्भुत शक्ति से परमगूढ़ महिमा वाले एवं समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले ईश्वरों के भी ईश्वर सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र को बारम्बार प्रणाम है ॥५ ॥६ ॥

राधापते! नन्दतनूज! कृष्ण! गोविन्द! गोपाल! मुकुन्द! मित्र।
गोपीश! वृन्दावनरासलासिन्! जिह्वात आर्तस्वरतस्स्फुर त्वम् ॥७॥

राधापते (हे राधाकान्त!) नन्दतनूज (हे नन्दनन्दन!) कृष्ण (हे भक्तजनों के पापों को हरने वाले! गोविन्द (हे गौओं की रक्षा करने वाले) मुकुन्द (हे मुक्ति प्रदाता मुकुन्द स्वरूप!) मित्र (हे विपत्ति में सहाय करने वाले!) गोपीश (हे गोपियों के स्वामिन्!) वृन्दावन रासलासिन् (हे वृन्दावन में नित्य रास करने वाले!) त्वं (तुम) आर्तस्वरतः (दीन गिरा से हिलमिल कर) जिह्वातः (मेरी जीभ पर) स्फुर (नृत्य करते रहो) ॥७ ॥

हे श्रीराधापते! हे नन्दनन्दन! हे कृष्ण! गोविन्द! हे गोपाल! हे मुकुन्द! हे मित्र! हे गोपीश! हे वृन्दावन की रासलीला के रसिक मुझको और कुछ नहीं चाहिये, बस इतनी कृपा कीजिये कि सदा सर्वदा आर्तस्वर से मेरी जिह्वा आप ही आपके नाम का उच्चारण करती रहे ॥७ ॥

विद्यानिधिर्नाम दिशो विजित्य श्रीमान् स वै नैष्ठिकवृत्तिसिद्धः।
निम्बार्कसंवादविबोधितश्च तदृष्टविश्वात्मविभीत आर्तः ॥८॥
निम्बार्कलीलागुणरूपनाम-धामस्वभावप्रतिकाशजोषम्।
निर्दिष्टमुद्घाटितहृत्कपाटो यावच्छ्रुतं वा अनुसंदधानः ॥९॥
स श्रीनिवासो विगताभिमानो निम्बार्करूपेण सुदर्शनेन।
संतापितश्चानुपयातपालः शुद्धो यथादृष्टमथो तमीडे ॥१०॥

विद्यानिधिः (विद्याओं का समुद्र) दिशः (दिशाओं को) विजित्य (जीतकर) सवै (वही) नैष्ठिक वृत्ति सिद्धः (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत

को पालन करने वाले) निम्बार्कसम्वादविवोधितः (श्री निम्बार्क भगवान् के सम्वाद से सचेत) च (और) तद्दृष्ट विश्वात्मविभीतः (श्रीनिम्बार्क भगवान् के द्वारा प्रदर्शित विराट् रूप से भयभीत) आर्तः (अतएव, दुःखित) यावच्छ्रुतं (सुने हुए) निर्दिष्टं (निर्देश किये हुए) श्रीनिम्बार्क–लीलागुणरूपनामधामस्वभाव–प्रतिकाश–जोषम्) श्रीनिम्बार्क भगवान् की लीला–गुण–रूप–नाम–धाम–स्वभाव के विकसित प्रकाश को) अनुसन्दधानः (अनुसन्धान करता हुआ) उद्घाटितहृत्कपाटः (सर्व सन्देहों से रहित) निम्बार्करूपेण (श्रीनिम्बार्क रूप) सुदर्शनेन (श्रीसुदर्शन से) सन्तापितः (संस्कृतः) च (अतः) विगताभिमानः (निरभिमान हो) अनुपयातपालः (परम्परा प्राप्त मर्यादा को पालन करने वाला) श्रीमान् (सम्प्रदाय लक्ष्मी को सुरक्षित रखने वाला) श्रीनिवासः (श्रीश्रीनिवासाचार्य) शुद्धः (शुद्ध स्वरूप) ("देखे गये") अथ (अब) यथादृष्टं (जैसे दर्शन हुए) तं (वैसे ही) (उनके स्वरूप को) (ईडे) मैं संस्तवन करता हूँ ॥८ ॥९ ॥१० ॥

(श्री औदुम्बराचार्यजी अपने ज्येष्ठगुरुभ्राता श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज के किये हुए उपकारों से अपने को ऋणी समझकर उनकी पुनः–पुनः वन्दना करते हैं) श्रीमन्निम्बार्क भगवान् ने किसी समय जिसको विराट्–स्वरूप दिखलाया एवं इस संसार की वास्तविक स्थिति दिखलाई, जिससे वे भयभीत होकर आर्तस्वर से श्रीगुरुदेव भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र की स्तुति करने लगे। तब भक्तवत्सल श्रीसुदर्शनावातर ने अपनी अमृतवाणी से जिनको सान्त्वना दी, उन्होंने भी श्रीनिम्बार्क भगवान् की लीला और उनके दयालुता आदिक गुण तथा नाम एवं प्रकाश और स्वाभाविक चमत्कार जो कुछ देखे और सुने उन सब का अनुसन्धान करते हुए वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण पालन करके अशेष विद्याओं के समुद्र बने। अतएव उन श्रीमान् ने समस्त दिशाओं को जीतकर निखिल मही–मण्डल पर एकमात्र आचार्यत्व पद को अलंकृत किया। किन्तु भगवान् श्रीनिम्बभानु के

प्रकाश से उनका अन्तः पटल सहसा खुल गया, अतः उनमें किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं रहा, कारण उन श्रीआचार्य-चरणों ने पहिले उनको सन्तापित किया, फिर अपनी सुधा-दृष्टि से सींच कर परिपुष्ट बनाया, अतएव श्रीनिम्बार्क भगवान् के रूप से ही इस धरातल को अलंकृत करते हुए श्रीश्रीनिवासाचार्य को जैसा शुद्ध मैंने देखा, वैसे ही रूप में मैं उनको प्रणाम करता हूँ॥८॥९॥१०॥

तुभ्यं नमः कृष्णनिदेशभाजे श्रीकृष्णसर्वप्रतिमानुकर्त्रे।
आद्यावताराय गिरेरिताय चाचार्यरूपाय सुदर्शनाय॥११॥

कृष्णनिदेशभाजे (श्रीकृष्णचन्द्र के आदेशों का पालन करने वाले) श्रीकृष्णसर्वप्रतिमाऽनुकर्त्रे (श्रीकृष्णचन्द्र के समस्त अवतारों का अनुकरण करने वाले) गिरेरिताय (निगमागम प्रतिपाद्य) आचार्यरूपाय (श्रीनिम्बार्क रूप से उपदेश करने वाले) सुदर्शनाय (चक्रराज) तुभ्यं (आपको) नमः (नमस्कार) है॥११॥

भगवान् श्रीनन्दनन्दन की आज्ञा के एकमात्र पात्र एवं श्रीकृष्णचन्द्र की समस्त प्रतिमाओं (अवतारों) के चरित्रों के अनुकरण करने वाले अर्थात् सर्वावतारी श्रीकृष्णचन्द्र के मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, बलराम, राम, बुद्ध, कल्कि इन दशों अवतारों की उपमा वाली लीलाओं को दिखलाने वाले सम्प्रदाय प्रवर्तक आद्याचार्य स्वरूप वेद प्रतिपाद्य श्रीसुदर्शन भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ॥११॥

(अब श्रीनिम्बार्क भगवान् के उन चरित्रों का वर्णन किया जायगा जो कि, आपने भगवान् की रुचि के अनुसार समय-समय पर किये हैं)

अतः प्रथम श्रीनिम्बार्क भगवान् के स्वरूप का वर्णन तीन श्लोकों में करते हैं।

सङ्कल्पयामास सदादिदेवश्चान्तर्विधाता गतयोगनिद्रः।
अग्रे स सङ्कल्प उपेत्य नेत्रमुन्मेषणं प्रैषयदेव तिष्ठन्॥१२॥

कल्पक्षयान्ते भगवान् स विश्वोध्वान्तं तमोध्वंसितुमुन्मिमेष।
तत्सम्भवो यो बहुलःप्रकाशःसप्रेक्षयामास जगन्ति सत्वम्॥ १ ३ ॥

कल्पक्षयान्ते (कल्प समाप्त होने पर) सविश्वः (कारण रूप से विश्व को अपने अन्दर लीन रखने वाले) विधाता (परम पिता) सदादिदेवः (सत्स्वरूप आदि पुरुष) गतयोगनिद्रः (योग निद्रा को त्यागकर) भगवान् (परमात्मा) (नें) अन्तः (अपने सत्त्वमय चित्त में) सङ्कल्पयामास (विचार किया) स (वह) सङ्कल्पः (विचार) एव (ही) उपेत्य (प्रकट होकर) अग्रे (सन्मुख) तिष्ठन् (स्थित हो) नेत्रं (नयनों को) उन्मेषणं (उद्घाटन) प्रैषयत् (करवाया) च (और) जगन्ति (प्राणियों को) सुप्रेक्षयामास (अच्छी प्रकार देखा) तत्सम्भवः (उससे उत्पन्न होने-वाला) यः (जो) वहुलः (बहुत सा प्रकाश) (हुआ) स (वह) त्वं (आप ही हो) ॥१२॥१३॥

जगत् की उत्पत्ति और प्रलय क्या है? केवल परमात्मा के पलक का खुलना और बन्द होना ही है। अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र के नेत्रोन्मेष होते ही सृष्टि रची जाती है, और उनकी पलक गिरते ही समस्त सृष्टि अन्तर्हित हो जाती है, जैसे कि परदा गिरते ही नाटकीय सभी दृश्य भीतर के भीतर और बाहर वाले देखते के देखते ही रह जाते हैं। बस

जब कल्प पूर्ण हो जाता है और प्रभु अपनी लीला को अपने अन्दर लीन कर लेते हैं, उस समय 'यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् अपने कारण अव्यक्त में लीन हो जाता है और अव्यक्त एवं जीव-समूह अर्थात् परमेश्वर की परा और अपरा दोनों शक्तियाँ शक्तिमान् सच्चिदा-नन्द श्रीसर्वेश्वर में लीन हो जाती है।

उस समय, '**सदेव सौम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्**'

अर्थात् जैसे समुद्र में डाली हुई वस्तु और उसके अन्दर भूतल का भाग न दीखकर केवल समुद्र ही समुद्र प्रतीत होता है, वैसे ही प्रलयकाल में जगदाधार भी सम्पूर्ण जगत् को अपने उदर में डालकर

एकमात्र सङ्कल्प करके योगनिद्रा को अङ्गीकार कर लेते हैं। फिर जब प्रलयकाल पूरा हो जाता है, तब भगवान् योगनिद्रा से जागृत होते हैं तो नेत्रों के खुलते ही वह सङ्कल्प सामने आकर उपस्थित हो जाता है। (इसी विषय का विस्तृत विवरण पातञ्जल योग सूत्र के २४वें सूत्र के भाष्य में श्रीवेदव्यासजी ने भी किया है।)

प्रलयकाल समाप्त होते ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने सङ्कल्प के अनुसार सर्वत्र छाये हुए अन्धकार को मिटाने के लिये अपने नेत्र कमलों को विकसित करते हैं, उसी क्षण विचित्र प्रकाश प्रादुर्भूत होता है और परमात्मा समस्त जगत् को देखते हैं। हे श्रीसुदर्शन! वह प्रकाश आप ही हैं॥१२॥१३॥

संस्काररूपेण तु भृत्यवर्गं व्याप्नोषि नित्यं तदघं विचिन्वन्।
विज्ञापयन् कृत्यमशेषपुंसां सूर्यो यथा रश्मिसमूहतः कुम्॥१४॥
क्षारं वहेः सौम्यमपीथमीड्य संसर्गतस्त्वं गुणतां सदोषम्।
संसारदम्भोलिविभेदतस्त्वं रक्षन् सतः संततमित्प्रसिद्धः॥१५॥

अशेष पुंसां (समस्त प्राणियों के) कृत्यं (कार्य को) विज्ञापयन् (प्रदर्शित करता हुआ) रश्मि समूहतः (अपनी किरणों से) यथा (जैसे) सूर्यः (सूर्यदेव) कुम् (पृथ्वी पर) (व्याप्त होता है) तु (वैसे) (आप भी) तदघं (उनके पापों को) विचिन्वन् (पृथक् करते हुए) संस्कार रूपेण (संस्कार रूप से) नित्यं (सदा सर्वदा) भृत्यवर्गं (अपने भक्तों में) व्याप्नोषि (व्याप्त रहते हो) ॥१४॥

ईड्य (हे स्तुति करने योग्य) इत्थं (इस उपरोक्त प्रकार के) संसर्गतः (संप्रकाशकत्व रूप व्यापक सम्बन्ध से) त्वं (तुम) सदोषम् (दोष रहित) "और" क्षारम् (हीन प्रकृति वाले को) अपि (भी) गुणतां (सद्गुण) "और" सौम्यम् (सुन्दर स्वभाव युक्त) वहेः (बनाओ) "क्योंकि" त्वं (तुम) सतः (सज्जनों को) संसारदम्भोलिविभेदतः

(सांसारिक प्रपंचों से पृथक् कर) सततं (निरन्तर) रक्षन् (रक्षा करने वाले) इत्प्रसिद्धः (लोक प्रसिद्ध प्रभाकर) असि (हो) ॥१५॥

यद्यपि हम सब आपको हमारे नेत्रों के सन्मुख मूर्तिरूप से एक जगह स्थित परिच्छिन्न की तरह देख रहे हैं, किन्तु वास्तव में आप परिच्छिन्न नहीं, व्यापक ही हैं। जैसे सूर्य उदय होकर समस्त प्राणियों को अपने–अपने कर्मों में प्रवृत्त करता है, वैसे ही आप भी पूर्णरूप से अहर्निश भगवान् के निकट और अवतार मूर्ति के रूप से लोक में एकत्र रहते हुए भी संस्कार रूप से समस्त जगत् में व्याप्त हो, अर्थात् आप ज्ञानस्वरूप (प्रकाश स्वरूप) होने के कारण भले–बुरे सभी प्राणियों के अन्तःकरणों में संस्कार रूप से विराजते हो। परन्तु जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा समस्त शुद्धाशुद्ध पदार्थों से सम्बन्ध रखता हुआ भी उनके गुण दोषों से निर्लिप्त रहता है, अर्थात् क्षार जल और मधुर जल दोनों ही का सूर्य से सम्पर्क रहता है, परन्तु सूर्य न मीठे ही बनते और न कडुए ही बनते। उसी प्रकार आप भी क्या पुण्यात्मा और क्या पापात्मा समस्त चराचर के अन्तर्वासी रहते हुए भी उनके गुण–दोषों से लिप्त नहीं होते। और संसार–सागर के भँवरों से सदा सर्वदा सज्जनों का उद्धार करते रहते हो॥१५॥

त्वत्तेजसो धर्ममयाच्च नित्यमुद्विग्नचित्ता असुरा वसन्ति।
विष्वग्वलिष्ठा अपि देवदेव! त्वां चक्र! भीतः शरणं गतोऽस्मि॥१६॥

देव–देव! (हे देवाधिपते!) विष्वग्वलिष्ठाः (संसार में अत्यन्त बलशाली) अपि (भी) असुराः (राक्षस जन) धर्ममयात् (धर्मरूपी) त्वत्तेजसाः (आपके प्रचण्ड तेज से) उद्विग्नचित्ताः (सदा चिन्तित चित्त) वसन्ति (रहते हैं) (अतः) चक्र (हे चक्रराज!) (मैं) भीतः (भयभीत हो) त्वां (तुम्हारी) शरणम् (शरण में) गतः (प्राप्त) अस्मि (हूँ) ॥१६॥

हे चक्रराज! दुष्टों का दमन और साधुओं का अभ्युत्थान करना ही आपका मुख्य कृत है। अतएव सर्व विध बलशाली दैत्य, दानव,

राक्षस आपके स्वरूपभूत तेज से काँपते रहते हैं। अत: हे देव-देव! मैं संसार दावानल से भयभीत हो आपकी शरण आया हूँ॥१६॥

देदीप्यमानाय मुकुन्दहार्द्दरूपाय पूर्वाय नमस्करोमि।
वैकुण्ठनाथस्य जगत्पिपासोर्दोर्दण्डखण्डोपरिमण्डलाय॥१७॥

जगत्पिपासो: (जगत् की नियत रूपेण पालन की इच्छा वाले) वैकुण्ठनाथस्य (श्रीविष्णु भगवान् के) दोर्दण्डखण्डोपरि (भुजदण्डों के विभागों पर) मण्डलाय (मण्डलाकार रूप से) देदीप्यमानाय (सुशोभित) पूर्वाय (सृष्टि के आदि में) मुकुन्दहार्द्दरूपाय (परब्रह्म के मन: स्वरूप से स्थित रहने वाले आपके लिये) नमस्करोमि (मैं नमस्कार करता हूँ) ॥१७॥

श्रीजगत्पिता वैकुण्ठाधिपति के भुजदण्ड पर सुशोभित देदीप्यमान श्रीमुकुन्द भगवान् के मन: स्वरूपी आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप अपने कर्त्तव्यानुसार मेरे भी भयंकर भव-बन्धनों को विनष्टकर अपने प्रकाश से मुझको प्रकाशित करने की कृपा कीजिये॥१७॥

विष्ण्वंगुल्युत्तायनयुग्मगर्भो विभ्राजमानोऽसि नखेन्दुराज्याम्।
सूर्यश्च यद्वद्विचकाशयन्त्यां सच्चन्द्रराज्यामुदयाद्रिमूर्ध्नि॥१८॥
षट्कोणमध्यो वलयत्रयोऽसि त्वं द्वादशारो रविबिंबभास:।
कालाय कृष्णोष्टविधायकाय तद्भक्तकार्यार्थतदन्तिगाय॥१९॥
पालाय रक्षार्थपरिक्रमाय तुभ्यं नमश्चक्र नमो नमोस्तु।
मार्तण्डकोटिप्रतिकाशकाय भूयो नमोऽनन्तबलाय तस्मै॥२०॥

उदयाद्रिमूर्ध्नि (उदयाचल के शिखर पर) यद्वत् (जैसे) सच्चन्द्र-राज्यां (शुद्धचन्द्र की रेखा में) सूर्य: (सूर्य सुशोभित होता है) "वैसे ही" षट्कोणमध्य: (बीच में छ: कोण वाले) च (और) वलयत्रय: (तीन आवर्त युक्त) द्वादशार: (बारह अरा वाले) रविबिम्बभास: (सूर्य की मूल कान्ति के स्वरूप) त्वं (तुम) (विष्ण्वंगुल्युत्तायन-युग्मगर्भ: (विष्णु भगवान् की उर्ध्वमुखी दोनों अंगुलियों के बीच में)

विवकाशयन्त्याम् (विशेष प्रकाशित) नखेन्दुराज्याम् (नखचन्द्र की रेखा पर) विभ्राजमान: (विराजमान) असि (रहते हो) (अत:) चक्र (हे चक्रराज!) कालाय (अखण्ड और अप्राकृत काल=समय, स्वरूप) कृष्णेष्टविधायकाय (श्रीनन्दनन्दन के अभिप्रायानुसार कार्य करने वाले) तद्भक्तकार्यार्थतदन्तिगाय (भगवद्भक्तों के कार्य के लिये उनके समीप पहुँचने वाले) रक्षार्थपरिक्रमाय (जगत् की रक्षा के निमित्त सर्वत्र फिरने वाले) पालाय (लोकों की पालना करने वाले) तुभ्यं (आपको) नम:-नम:-नम: (बारम्बार नमस्कार) अस्तु (हो) (जोकि) अनन्तवलाय (अनन्त बलशाली) "और" मार्तण्ड कोटि प्रतिकाशकाय (करोड़ों सूर्यों को प्रकाशित करने वाले) (ऐसे) तस्मै (तुमको) भूय: (बारम्बार) नम: (नमस्कार है) ॥१८॥१९॥२०॥

हे चक्रराज! आप षट्कोण-स्वरूप और बीच में तीन वलय (गोलाकृतियाँ) एवं द्वादश अरा वाले अथच-अनन्त सूर्यों की कान्ति वाले स्वरूप को धारण किये हुए, जैसे चन्द्रमा के मण्डल को प्रकाशित करता हुआ सूर्य उदयाचल पर सुशोभित हो, वैसे ही भक्तजनों को आह्लादित करने वाली आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के नखचन्द्र की पंक्तियों को चमत्कृत करते हुए श्रीविष्णु भगवान् की उन्नत दोनों उँगलियों पर विराजते हो। आप दुष्टजनों के लिये काल स्वरूप हो, भगवद्भक्तों के कार्य करने के लिये भगवान् की रुचि के अनुकूल भक्तों के सन्निकट पहुँच कर उनकी पालना करते हो, इतना ही नहीं अपितु भक्तों को दुष्टों के भय से बचाने के लिये आप उनकी परिक्रमा ही किया करते हो, ऐसे भक्त-वत्सल अनन्त बलशाली एवं करोड़ों सूर्यों को तिरस्कृत करने वाले तेज: पुंज ? मैं आपको पुन:-पुन: नमस्कार करता हूँ॥१८॥१९॥२०॥

रक्षार्थिविप्रेष्टिविरञ्चिचिन्ताऽभिज्ञेन कृष्णेन समेषितस्त्वम्।
केऽन्तर्गतो द्योतितहृत्सरोजश्चण्डाशुकोटिद्युतिराविरासी: ॥२१॥

रक्षार्थिविप्रेष्टिविरञ्चिचिन्ताऽभिज्ञेन (रक्षा चाहने वाले ब्राह्मणों के यज्ञ के लिये ब्रह्मा की चिन्ता को जानने वाले) कृष्णेन (श्रीकृष्णचन्द्र ने) त्वं (आपको) समेषित: (भेजा) ('जिससे कि') द्योतितहृत्सरोज: (हृदयकमलों को प्रफुल्लित करने वाले) चण्डाशुकोटिद्युति: (करोड़ों सूर्यों की प्रभा के सामन) के (वैकुण्ठ अर्थात् क्षीर समुद्र के) अन्त: (अन्दर) गत: (पुहँचकर) आविरासी: (आप प्रकट हुए) ॥२१॥

हे देव! यद्यपि आप सदा-सर्वदा आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द्र के समीप ही नहीं, अपितु श्रीरंगदेवी के रूप से अत्यन्त सन्निकट स्थित रहते हो तथापि रक्षार्थि ब्राह्मणों के यज्ञों की पूर्ति के निमित्त ब्रह्मा को चिन्तित जानकर सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ने आपको यहाँ भेजा। अत: आप क्षीर समुद्रशायी चतुर्भुज विष्णु के सन्निकट वहाँ के कमलों को प्रफुल्लित करते हुये क्षीर समुद्र में करोड़ों सूर्यों की आभा के रूप में प्रकट हुए।*

तात्पर्य यह है कि, 'मत्त: परतरंनान्यत्, कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहन्नजाने' इत्यादि शास्त्रीय तथा शास्त्र ज्ञाताओं के वाक्य से यह निश्चित हो चुका है कि, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से बढ़कर और कोई परब्रह्म परमात्मा नहीं है, और उनके गोलोकधाम से बढ़कर दूसरा कोई विशिष्ट लोक नहीं है, इन लोकों का क्रम अनन्त-संहिता में लिखा है कि-

महर्ल्लोकं क्षितेरूर्ध्वमेककोटिप्रमाणत:।
कोटिद्वयेन विख्यातं जनलोकव्यवस्थितम्॥२४॥

---

* इस पद का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि, 'सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्य समप्रभ:। अज्ञानां तिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय॥ इस आज्ञा के अनुसार आपने आचार्य रूप से भूलोक में प्रकट होकर कितने ही भक्तजनों के हृदय-कमलों को अपनी ज्ञानमयी किरणों से जागृति प्रदान कर उनको प्रफुल्लित बनाया।

चतुष्कोटिप्रमाणं तु तपोलोकं विराजितम्।
उपरिष्ठात्ततः सत्यमष्टकोटिप्रमाणतः ॥ २५ ॥
तदूर्ध्वोपरिसंख्यातमुमालोकं सुनिष्ठितम् ॥ २६ ॥
शिवलोकं तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम्।
तदूर्ध्वं सप्ततत्त्वानां कार्यकारणमानिनाम् ॥ २८ ॥
निलयं परमं दिव्यं महावैभवसंज्ञकम्।
यत्र शेते महाविष्णुर्भगवान् जगदीश्वरः ॥
यदंशेन समुद्भूता ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ३७ ॥
तद्वेदाः परमं धाम मदीयं पूर्व सूचितम्।
तदूर्ध्वं परमं दिव्यं सत्यमन्यद्व्यवस्थितम् ॥
न्यासिनां योगिनां स्थानम्............... ॥ ४० ॥
महाशम्भुर्वसत्यत्र सर्वशक्तिसमन्वितः ॥
तदूर्ध्वं तु परं कान्तं महावैकुण्ठ संज्ञकम् ॥ ४१ ॥
वासुदेवादयस्तत्र विहरन्ति स्वमायया।
तदूर्ध्वं तु स्वयं भान्तं गोलोकं प्रकृतेः परम् ॥ ४२ ॥
इदं वेदा परं.................................. ॥ ४९ ॥
तत्राऽस्ते भगवान् कृष्णः सर्वदेवशिरोमणिः ॥ ८१ ॥

भाव यह है कि एक ब्रह्माण्ड में सात नीचे के और सात ऊपर के ऐसे चौदह लोक माने गये हैं। * उनमें भूः भुवः स्वः इन पार्थिव लोकों के ऊपर एक कोटि योजन विस्तृत महर्लोक है, उसके ऊपर दो कोटि योजन विस्तृत जनलोक है, उसके ऊपर चार कोटि योजन विस्तृत तपोलोक और उसके ऊपर सोलह कोटि योजन विस्तृत सत्यलोक है। ये सब लोक प्रकृति जन्य होने के कारण प्राकृत हैं। परन्तु सर्वोच्च होने के कारण सत्यलोक प्राकृत वैकुण्ठ माना जाता है, एवं अनेक

---

* अर्थात् अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल; पाताल ये सात सीचे के लोक हैं और भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य ये सात ऊपर के लोक कहलाते हैं।

ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त ही सत्यलोक और उनके अधिपति विष्णु भी अनन्त ही हैं। ये अनन्त विष्णु गुणावतार माने गये हैं। इसके ऊपर उमा लोक है, उसके ऊपर शिवलोक उसके ऊपर शिव, ब्रह्मा, विष्णु इन गुणवतारों के अवतारीस्वरूप कारणोदशायी विष्णु का महा वैभव नामक वैकुण्ठ है। बस यहाँ तक प्राकृत लोक हैं। इनसे आगे अप्राकृत लोकों का यह क्रम है। कारणोदशायी विष्णु (जिससे कि गुणावतार शिव, ब्रह्मा और विष्णु प्रकट होते हैं, उसके महा वैभव वैकुण्ठ के ऊपर महाशम्भु का लोक है, जहाँ पर कि योगी, यति और संन्यासी कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के द्वारा पहुँच कर सुखपूर्वक निवास करते हैं। उसके ऊपर महावैकुण्ठ है, जहाँ कि वासुदेवादि चतुर्व्यूह अपनी योगमाया से विहार करते हैं। उसके ऊपर स्वयं प्रकाशस्वरूप गोलोकधाम है, हे श्रुतियों! वस यही परात्पर सर्वोत्तम सर्वमूर्ध्नि स्वरूप लोक है और यहाँ पर ही सर्वदेव शिरोमणि श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीराधिकाजी के सहित विराजते हैं। वहाँ गोलोकधाम में भगवान् के अत्यन्त सन्निकट परिचर्य्या करते हुए श्रीसुदर्शन (चक्रराज) श्रीरंगदेवीजी के रूप में निरन्तर विराजते हैं, किन्तु जब श्रीकृष्णप्रभु की आज्ञा होती है, तब भक्तजनों की रक्षा के लिये अन्य लोकों में भी विभिन्न-विभिन्न स्वरूपों से प्रादुर्भूत होते रहते हैं। अतएव सर्वज्ञ श्रीसर्वेश्वर प्रभु ने भक्तजनों की रक्षा के निमित्त अपने अंशभूत अष्टभुज तथा चतुर्भुज श्रीविष्णु के निकट आपको चक्र-रूप से भेजा ॥२१॥

यद्वत्समाधावनिरुद्धरूपमग्रे चतुर्मूर्तितुरीयतत्वम्।
सन्तानकामेऽति समादधाने तस्मैनमोब्रह्मसुतत्वभाजे ॥ २२ ॥

यद्वत् (जैसे) अग्रे (पहिले) सन्तानकामे (सृष्टिक्रम) अति समादधाने (समुचित रूप से स्थित हो जाने पर) समाधौ (समाधि प्रणाली के निमित्त) ब्रह्म (परात्पर परब्रह्म ने) चतुर्मूर्ति तुरीयतत्त्वम् (वासुदेवादि चारों में से चतुर्थ) अनिरुद्धरूपम् (अनिरुद्धरूप) 'धारण किया' तस्मै (उस) सुतत्त्वभाजे (मुक्तिप्रद सुन्दर तत्त्व को धारण करने वाले ब्रह्म के लिये) नमः (नमस्कार है) ॥२३॥

जैसे कि पहिले सृष्टि–क्रम समुचित रूप से स्थित हो जाने पर मुक्ति पदार्थ की प्राप्ति के लिये समाधि आदिक साधनाओं का उपदेश करने के निमित्त परब्रह्म परमात्मा ने व्यूहावतारी वासुदेवादि चारों मूर्तियों में से चतुर्थ मूर्ति श्रीअनिरुद्ध–स्वरूप को धारण किया जो कि आज श्रीनिम्बार्काचार्य के स्वरूप से हमें कृतार्थ कर रहा है अत: मुक्ति प्रदायक सुन्दर तत्त्व को धारण करने वाले आपके उस ब्रह्मस्वरूप के लिये नमस्कार है॥२२॥

विध्वंसयन् भूमितलेरविर्वा कृष्णान्वितोभूमपथस्थमन्धम्।
ध्वान्तं स भूमान? महोमहिष्ठ? हृन्निष्टमज्ञोनमपाकुरुष्व॥२३॥
तत्सूचितार्थप्रतिपादकस्त्वं विप्रान्वितोऽधर्मतमोगमो य:।
अन्तस्थमुग्रान्धमपाययिष्यँस्त्वामेव सूर्यं समुपाश्रितोऽस्मि॥२४॥

य: (जो) तत्सूचितार्थप्रतिपादक: (उस परब्रह्म द्वारा आज्ञापित कार्य को करने वाला) विप्रान्वित: (वालखिल्यादि ऋषियों से युक्त) रवि: (सूर्य) अन्धम् (अन्धकार रूपी) ध्वान्तम् (दोष को) विध्वंसयन् (अपनी रश्मियों से नष्ट कराता हुआ) "भूमितले (पृथ्वी पर) "स्थित है" वा (उसी प्रकार) कृष्णान्वित: (भगवान् श्रीकृष्ण के संग रहने वाले) त्वं (आप) भूमपथस्थम् (भूमा भगवान् के मार्ग में स्थित) अन्तस्थम् (गुप्त) उग्रान्धम् (प्रचण्ड अन्धकार को) अपाययिष्यँन् (अपनी रश्मियों से नष्ट करवाते हुए) अधर्मतमो (अधर्म रूपी तम को) गम: (नष्ट किया) भूमान (हे पृथ्वी के समान परिमाण वाले) महोमहिष्ठ (हे तेज: पुंज पूजनीय?) त्वाम् (आपको) एव (ही) सूर्यम् (वास्तविक सूर्य मानकर) समुपाश्रित: (शरण में आया) अस्मि (हूं) स: (वह आप) हृन्निष्टम् (मेरे हृदय के) अज्ञानम् (अज्ञान को) अपाकुरूष्व (विनष्ट कीजिये)॥२३॥२४॥

जैसे सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की आज्ञा के अनुसार जगत् को प्रकाश पहुँचा कर वालखिल्यादि ऋषियों सहित नभमण्डल में भ्रमण करने वाला सूर्य, अन्धकार–रूपी दोष को अपनी किरणों से दूर भगाता

हुआ पृथ्वी पर स्थित कर रहा है, उसी प्रकार आप भी सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के संग रहते हुए 'भूमा-भगवान्' के मार्ग के बीच में छिपे हुए और नभ-मण्डलस्थ सूर्य से विनष्ट न होने वाले ⋆ महान् अन्धकार को अपने अलौकिक तेज से विनष्ट करवाते हुए, पृथ्वी पर फैले हुए अधर्मरूपी अन्धकार का विनाश किया, अतएव हे पृथ्वी के समान गोलाकृति एवं विस्तृत परिमाण वाले प्रभो ? हे तेज: पुंज–स्वरूप अखिल लोकों के द्वारा परम पूजनीय ? मैं तो आपको ही वास्तविक सूर्य मान रहा हूँ और आप ही की शरण में आया हुआ हूँ, इसलिये हे प्रभो ! लोकालोक गिरिराज की कन्दराओं में छिपे हुए उग्र अन्धकार

⋆ भगवान् श्रीसर्वेश्वर ने 'भूमा' पुरुष की कृष्णावतार दर्शन की अभिलाषा पूर्ति एवं अर्जुन के अभिमान को दूर करने के लिये द्वारकापुरी में एक ऐसी अद्भुत लीला की थी कि किसी ब्राह्मण का एक पुत्र जन्मते ही मर गया, तब वह ब्राह्मण उस मृतक पुत्र को राजद्वार पर रखकर यह कहता चला आया कि वर्तमान राजा के अधर्म से मेरा पुत्र मरा है। अत: ऐसे हिंसक राजा के राज्य में बसने से मुझे यह पुत्र मरण जन्य दु:ख प्राप्त हुआ है। इस प्रकार जब ९ पुत्र उस ब्राह्मण के मर गये, तब अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि हे विप्र ! तेरे जब पुत्र जन्मे तब उस समय मुझे बुला लेना, मेरे को यादवराज तथा श्रीकृष्णचन्द्र के सदृश मत जानना। मैं धनुर्धारी वीर अर्जुन हूँ, मेरे सन्मुख काल क्या विजय कर सकता है। ऐसे अर्जुन के वाक्यों पर विश्वास कर ब्राह्मण ने पुत्रोत्पत्ति के समय उसको घर पर बुलाया अर्जुन ने भी वाणों का एक विचित्र जाल रचा जिसमें कि हवा भी नहीं आ सकती थी, तथापि वह बालक जन्म लेकर उसी क्षण अदृश्य हो गया, तब उस ब्राह्मण ने अर्जुन को बहुत से अनुचित वचन कहे जिससे अर्जुन लज्जित होकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में आकर गिर गया और ब्राह्मण कृत अपने अपमान की गाथा सुनाकर उन ब्राह्मण बालकों को देखने के लिये आग्रह किया, तब भक्त की प्रार्थना के वशीभूत हो भक्तवत्सल प्रभु अर्जुन को संग लेकर अपने रथ में विराजे और 'भूमा वैकुण्ठ' को जाने के लिये प्रस्थान किया। जब भूमण्डल को अतिक्रमण कर लोकालोक पर्वत के निकट पहुँचे।

को मिटाने वाले आप मेरे इस हृदय वर्ति–अज्ञान को भी दूर भगाकर अपने सुन्दर सुभव्य प्रकाश को प्रकट कीजिये क्योंकि–

भगवान् की रुचि के अनुकूल कार्य करने वाले आप देव द्विजादि के सदा सहायक एवं धर्म पर आये हुए आघातों को मिटाने वाले पृथ्वीतल के अन्धकार को विनष्ट करते हुए आप इस धरातल पर साक्षात् सूर्य रूप से ही विराजते हो। परन्तु सूर्य में और आप में बहुत कुछ तार–तम्य है, वह यह है कि सूर्य केवल वाहर के अन्धकार को ही मिटा सकता है। किन्तु आप तो पृथ्वीतल के अन्धकार के साथ–साथ भूतल निवासियों के अन्तःकरण स्थित उग्र अन्धकार को भी मिटा देते हैं। अतः हे समस्त सूर्यों के सूर्य! मैं तो आप ही की शरण ले रहा हूँ। क्योंकि अब (आगे आने वाले) घोर कलियुग के भयंकर अन्धकार को मिटाने वाला और कोई दृष्टिगत नहीं होता ॥२३ ॥२४ ॥

तब–

तत्राश्वाः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकाः।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभः ॥ १ ॥
तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः।
सहस्त्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥ २ ॥
तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्विदारयद्भूरितरेणशेचिषा।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो राम शरोयथा चमूः ॥ ३ ॥
द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः परं परं ज्योतिरनन्तपारम्।
समश्नुवानः प्रसमीच्य फाल्गुनः, प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ॥ ४ ॥

श्रीमद्भागवत १० स्कन्ध उ० अ, ८९ श्लो० ४९ से ५२ तक भगवान् के रथ के घोड़े उस महान् अन्धकार में मार्ग से विचलित होने लगे, उनको गति भ्रष्ट देखकर श्रीभगवान् चक्रराज को आगे किया, जिससे कि वह उग्र अन्धकार उसी क्षण अदृश्य हो गया और वहाँ पर इतना प्रकाश फैला कि अर्जुन के नेत्र बन्द हो गए।

तत्राऽपि सत्रस्वविलुण्ठकानां रक्षोगणानां वसुभागभाजाम्।
गौरास्यमुख्यर्षिजिघांसयेव निर्दोषसिंहेष्टजिघांसकानाम्॥२५॥
उद्युक्तशस्त्रास्त्रसमूहदोषान् श्रीनारसिंहस्त्वमसत्सभायाम्।
आविर्वभूव प्रतिपक्षकक्षे कोट्यग्निचण्डांश्वतिदाहकाशः॥२६॥

तत्र (उस त्रेतायुग में) अपि (भी) गौरास्यमुख्यर्षिजिघांसया (गौरमुख आदि ऋषियों के घात की इच्छा से) निर्दोषसिंहेष्ट जिघांसकानाम् (निर्दोष मृग आदि पशुओं के बध की कामना वाले) वसुभागभाजाम् (यज्ञादि कर्मों के द्रव्यों में भाग लेने वाले) रक्षोगणानां (राक्षसों की) असत्सभायां (दुष्ट सभा में) त्वं (आप) श्रीनारसिंहः (श्रीनृसिंह भगवान् की) इव (भाँति) आविर्वभूव (प्रकटित हुए) उद्युक्तशस्त्रास्त्रसमूहदोषान् (अस्त्र शस्त्रों के समुदाय को उठाये हुए दुष्टों के प्रति) प्रतिपक्षकक्षे (विपक्षी रूपी तृण के निमित्त) कोट्यग्निचण्डांश्वतिदाहकाशः (करोड़ों अग्नियों से आविर्भूत प्रखर किरणों की अत्यन्त ज्वाला के समान प्रकटित हुए) ॥२५॥२६॥

'त्रेता' में भी 'नैमिषारण्यादि' स्थानों में यज्ञों की सामिग्रियों को नष्ट भ्रष्ट कर देने वाले, दिक्पालों से हिस्सा बटवाने वाले और श्रीगौरमुख आदि ऋषियों पर आक्रमण करने की इच्छा से निर्दोष सज्जनों की अभीष्ट वस्तुओं को नष्ट करने वाले राक्षसों की निकृष्ट सभा में उनके विपक्षीरूप से करोड़ों अग्नि और सूर्यों के सदृश दाह युक्त श्रीनृसिंह रूप से आप प्रादुर्भूत होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार प्रह्लाद को बचाकर हिरण्यकशिपु को मारने के लिये उग्र एवं प्रचण्ड रूप से श्रीनरहरि भगवान् सहसा प्रकट होते हैं, और उनके तेज से राक्षसगण तृणसमूह की भाँति जलने लगते हैं, वैसे ही भगवद्भक्तों की रक्षा के लिये आप अपने प्रचण्ड तेजः स्वरूप से सहसा आविर्भूत होते हैं॥२५॥२६॥

दैत्येन्द्रसन्दोहपतङ्गसंघास्त्वद्वर्चसि प्रक्षयमीयुरिद्धाः।
प्रह्लादपित्रादिवदीश! भासि तद्वन्निजाराग्रविदीर्णवक्षाः॥२७॥

ईश (हे प्रभो!) तद्वत् (उसी प्रकार) निजाराग्रविदीर्णवक्षाः (अपने अराओं के अग्रभाग से छिन्न भिन्न हृदय वाले) दैत्येन्द्रसन्दोहपतङ्गसङ्घाः (असुराधिपतियों का समूहरूपी पतङ्गसमुदाय) त्वद्वर्चसि (आपके तेज में) भासि (श्रीनृसिंह के तेज में) प्रह्लादपित्रादिवत् (हिरण्यकशिपु आदि की भाँति) इद्धाः (जलते हुए) प्रक्षयं (विनाश को) ईयुः (प्राप्त हुए) ॥२७॥

हे ईश! जिस प्रकार नृसिंह भगवान् के तेज से दुष्ट हिरण्यकशिपु आदि राक्षस–दग्ध हो गये थे, वैसे ऋषियों को सताने के लिये नैमिषारण्य में आये हुए वे दुष्ट राक्षसगण आपके असीम तेज से जलकर भस्म हो गये। नृसिंह भगवान् को तो किसी कारण वश हिरण्यकशिपु पर नखों का भी प्रहार करना आवश्यक हो गया था, किन्तु आपके तो उदयमात्र से सब दुष्टों के हृदय विदीर्ण हो गये, यह आप में विशेषता है॥२७॥

अब दो श्लोकों से नैमिषारण्य बन की संज्ञा बतला रहे हैं:-

प्रत्याच्र्छ इष्ट्यंशमशेषतस्त्वमन्यस्वहारादसुराारितेजाः।
एवं हि नेम्यैव शशर्थ दुष्टान् नाम्नोदितो नेमिश इत्यतस्त्वम्॥२८॥
क्षेत्रं तु वै नैमिषमित्यरण्यं नामार्थयुक्तं प्रवदन्ति सभ्याः।
दध्यङ्स्थलं त्वामवकं समेत्य श्रीनैमिषारण्यमिति प्रगुप्तम्॥२९॥

एवं (इस प्रकार) हि (जैसे) असुरारितेजाः (दैत्यदाहक तेजवान्) त्वं (तुमने) अन्यस्वहारात् (परधनहारी राक्षसों के समूह से बचाकर) अशेषतः (समग्र) इष्ट्यंशम् (यज्ञ के भाग को) प्रत्याच्र्छ (दिया) हि (और) नेम्या (नेमि से) एव (ही) दुष्टान् (दुष्टों को) शशर्थ (मारा) अतः (इस हेतु से) त्वं (आप) नेमिशः (नेमिश) इति (इस) नाम्ना (नाम से) उदितः (कहे गये) तु (और) सभ्याः (सज्जन जन) अरण्यनामार्थयुक्तं (अरण्य नाम के अर्थ से युक्त) नैमिशम् (नैमिश) इति (यह) प्रवदन्ति (कहते हैं) "वह" दध्यङ्स्थलं

(दधीचि का स्थल) त्वां (तुम) "जैसे" अवकं (रक्षक को) समेत्य (प्राप्त होकर) नैमिषारण्यम् (नैमिषारण्य) इति (इस नाम से) प्रगुप्तम् (प्रसिद्ध हुआ) ॥२८॥२९॥

हे दैत्य दाहक तेजः स्वरूप! आपने दुष्टों के हाथों में न जाने देकर यज्ञ की समस्त सामग्रियाँ श्रीगौरमुखादि ऋषियों के लिये प्रदान कीं और अपनी (अनी) 'नेमी' मात्र से उन दुष्टों का संहार किया, इसी कारण हे प्रभो! आपका एक नेमिश नाम सिद्ध हुआ। 'अरण्य' क्षेत्र होने के कारण उस नेमिष के साथ अरण्य शब्द का मेल करने से उन वन को (जिसमें कि आपने दुष्टों को जलाकर ऋषियों और उनके यज्ञ की रक्षा की) सभ्य पुरुष नैमिषारण्य कहते हैं। अतएव यह महर्षि दधीचि * का स्थल आपको रक्षक पाकर सुरक्षित बना॥२८॥२९॥

प्रौढं यथा भारतनामपूर्वइन्द्रादिपालं त्वजनाभखण्डम्।
संशान्तविघ्नं परिकल्प्य यज्ञं देदीप्यमानं सुमहोग्रतेजः॥३०॥
उत्तुङ्गसिंहासनसुस्थिरं त्वामुत्तप्तदेहा अतिवर्चसा ते।
दूरस्थिता एव कयुक्तहस्ता देव्या गिरा तुष्टुवुरत्युदुक्ताः॥३१॥

यथा (जैसे कि) इन्द्रादिपालम् (इन्द्रादि देवों से पालित) अजनाभखण्डम् (आर्यावर्त) भारतनामपूर्वम् (भारतनामपूर्वक) प्रौढं (प्रसिद्ध हुआ) तु (फिर) सुमहोग्रतेजः (हे प्रचण्डतेजवान्!) यज्ञम् (उस यज्ञ को) देदीप्यमानम् (पूर्ण प्रज्वलित) संशान्तविघ्नं (निर्विघ्न) परिकल्प्य (पूर्ण कर) "आप विराजमान हुए" "तब" ते (आपके) अति वर्चसा (प्रखर तेज से) उत्तप्तदेहाः (सन्तप्तशरीरों वाले) कयुक्त हस्ताः (मस्तक पर हाथों को जोड़कर रखे हुए) दूरस्थिताः (दूर खड़े हुए) एव (ही) उत्तुङ्गसिंहासनसुस्थिरं (ऊँचे सिंहासन पर विराजे

* जिसने देवताओं को अपनी हड्डियों का दान दिया था वही दधीचि ऋषिनैमिषारण्य में निवास करते थे।

हुए) त्वां (आपको) दैव्या गिरा (संस्कृत स्तोत्रों से) अत्युदुक्ता: (उच्च स्वर से) तुष्टुवु: (वे आपकी स्तुति करने लगे) ॥३० ॥३१ ॥

हे महोग्रतेज:स्वरूप! जिस प्रकार महाराजा भरत ने इन्द्रादि देवों से पालित इस आर्यावर्त्त प्रदेश को अपने भुजबल और सुनीति से सुरक्षित रखकर अपने नाम के अनुसार इस खण्ड को 'भारत' के नाम से प्रसिद्ध किया, उसी प्रकार आपने उस यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त करवाकर उस वन को अपने नामानुकूल नैमिषारण्य नाम से प्रसिद्ध बनाया।

उस समय अति विशाल सिंहासन पर विराजे हुए आपकी देव एवं दैत्य सभी अपने-अपने मस्तक पर दोनों हाथों को जोड़कर आपके प्रचण्डताप से प्रतप्त होने के कारण दूर-दूर ही खड़े होहो कर संस्कृत शब्दों में स्तुति करने लगे ॥३० ॥३१ ॥

श्रीनारसिंह विवुधा अजाद्या: प्रह्लादमुख्या इव दाहशान्त्यै।
मध्ये सभायां ह निशामयन्त्यां गौरास्यमुख्या: क्रमश: स्वहार्दै: ॥३२॥
तेजोमयोऽदृग्विषयस्त्वमञ्ज: सम्प्रार्थितस्त्वं मुनिरूप आसी:।
संशान्ततेजा: समलिङ्गकृत्य: श्रीनारसिंहोपम! शास्तृतुष्ट: ॥३३॥

दाह शान्त्यै (दाह की शान्ति के लिये) श्रीनारसिंहम् (श्रीनृसिंह भगवान् को) प्रह्लादमुख्या: (प्रह्लाद को आगे किये हुए) अजाद्या: (ब्रह्मादि) विवुधा: (देवों) "की" इव (भाँति) निशामयन्त्यां (कोलाहलरहित) सभायां (सभा के अन्दर) क्रमश: (यथाक्रम) स्वहार्दै: (अपनी-अपनी हार्दिक भावनाओं के द्वारा) गौरास्यमुख्या: (गौरमुख आदिक ऋषियों ने) "स्तुति की" श्रीनारसिंहोपम (हे नृसिंह भगवान् की उपमा को धारण करने वाले) अदृग्विषय: (सुक्ष्मस्वरूप) तेजोमय: (तेजोमूर्त्ति) त्वं (आप) सम्प्रार्थित: (ऋषियों के द्वारा प्रार्थना करने पर) अञ्ज: (शीघ्र ही संशान्ततेजा: (सौम्यस्वरूप) समलिङ्गकृत्य: (मानवीचिह्न और कार्यों से युक्त) त्वं (आप) शास्तृ

तुष्ट: (धार्मिक शासकों पर सन्तुष्ट होकर) मुनिरूप: (इसी श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र के रूप से) आसी: (स्थित हुए) ॥३२॥३३॥

जैसे भगवान् श्रीनृसिंह के तेज से सन्तप्त प्राणियों ने एवं प्रह्लाद आदि भक्तों ने तथा ब्रह्मा आदि देवों ने उस प्रचण्ड दाह की शान्ति के लिये सभा (हिरण्यकशिपु के भुवन) में स्तुति करके श्रीनृसिंह भगवान् के क्रोधानल को शान्त बनाया था, वैसे ही हे नृसिंह प्रभु की उपमा को धारण करने वाले दुष्टों के दलन के लिये बढ़े हुए आपके प्रचण्ड तेज से चकाचौंध होकर सभी दैत्य और देवों ने आपकी स्तुति की, उन पर दयार्द्र चित्त होकर आपके प्रिय शिष्य श्रीगौरमुखादिक महर्षियों के स्तवन से आपने तत्क्षण मुनि-रूप धारण कर अपनी सौम्य आकृति से प्रज्वलित आत्माओं को शान्ति प्रदान की ॥३२॥ ॥३३॥

शश्वत्स्वरक्षार्थिभिरर्थितस्त्वं गौरास्यसेव्य: सततं समासी:।
प्रह्लादसेव्यो हि यथा नृसिंहस्तस्मै नमस्तेऽस्तु नृसिंहभासे ॥ ३४॥

स्वरक्षार्थिभि: (अपनी-अपनी रक्षा चाहने वालों से) अर्थित: (प्रार्थना किये हुए) त्वं (तुम) सततं (निरन्तर) हि (ही) गौरास्य सेव्य: (गौरमुख आदि के परमोपास्य रूप से) समासी: (आप उस नैमिषारण्य में विराजित हुए) यथा (जैसे कि) प्रह्लादसेव्य: (प्रह्लाद के उपास्य) नृसिंह: (श्रीनृसिंह भगवान्) "वहाँ स्थित हुए थे" तस्मै (उस) नृसिंहभासे (श्रीनृसिंह की कान्ति वाले) ते (आपके लिये) नम: (नमस्कार) अस्तु (हो) ॥३४॥

हे नृसिंहप्रभु! जैसे प्रह्लाद के सेव्य श्रीनृसिंह, सदा सर्वत्र निवास कर रहे हैं, अतएव भक्तजन जब चाहें तभी उनको प्रकट कर लेते हैं, वैसे ही आप भी निरन्तर अपनी रक्षा चाहने वाले ऋषियों की प्रार्थना से सदा-सर्वदा नैमिषारण्य में विराजते हो। जब-जब ऋषियों पर आपत्तियाँ आती हैं, तब-तब गौरमुख आदि ऋषियों के स्तवन मात्र से आप प्रकट होकर उनको सुखी बनाया करते हैं। ऐसे श्रीनृसिंह प्रभु की समता रखने वाले आपके चरणों में मेरा नमस्कार है ॥३४॥

श्रीनारसिंहानुकृते नमस्ते श्रीकृष्णभक्ताय नमो नमस्ते।
गौरास्यसेव्याय नमो नमस्ते तच्चक्रतीर्थेऽनवधिस्थिताय ॥ ३५ ॥

श्रीनारसिंहानुकृते (श्रीनृसिंह भगवान् की उपमा को व्यक्त करने वाले) ते (आपके लिये) नमः (नमस्कार है) श्रीकृष्णभक्ताय (श्रीकृष्णचन्द्र की परा-भक्तिमान्) ते (आपके लिये) नमः-नमः (बारम्बार नमस्कार है) तच्चक्रतीर्थे (नैमिषारण्यान्तर्गत उस चक्रतीर्थ में) अनवधिस्थिताय (अवधि रहित समय तक निवास करने वाले) गौरास्यसेव्याय (ऋषिराज श्रीगौरमुख के उपास्य देव) ते (आपके लिये) नमः-नमः (बारम्बार नमस्कार है) ॥३५ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से भगवान् श्रीनृसिंह की भाँति प्रचण्ड तेज से दुष्टों को जलाने वाले और निरन्तर श्रीकृष्णप्रभु की भक्ति करने वाले श्रीगौरमुख आदि ऋषियों से सेव्यमान नैमिषारण्यस्थ चक्रतीर्थ में सदा-सर्वदा विराजने वाले श्रीनिम्बार्क भगवान् को मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि जहाँ पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अविच्छिन्न स्मृति है, एवं अनन्य भक्ति है, वहाँ पर क्रोध एवं किसी को जलाना या नष्ट कर देना आदि निषिद्ध कर्मों की प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु श्रीनिम्बार्क भगवान् में अत्यन्त शान्ति और भयंकर ही नहीं अपितु तत्क्षण भस्म कर देने वाला तेज ये दो विरुद्ध धर्म उपरोक्त श्लोक से सिद्ध होते हैं। किन्तु जैसे मूर्खता और विद्वता एक मनुष्य में नहीं रहती, एवं तेज और तिमिर एक समय में संग नहीं रह सकते, वैसे ही साधारण मनुष्यों में ऐसे दो विरुद्ध धर्म भी नहीं रह सकते। इस सन्देह की निवृत्ति आगे ग्रन्थकार स्वयं करेंगे। संक्षिप्त रूप से यहाँ भी उसका साधारण समाधान दिखाया जाता है। पाठकजन ध्यान दें।

समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक परमात्मा ही है, क्योंकि उसी सर्वाधार में सभी जगत् स्थित है। अतः धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, शुद्धता और अशुद्धता, सद्‌गुण और असद्‌गुण इत्यादि विरोध परमात्मा में अविरुद्ध रूप से ही रहते हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् भी उसी सर्वाधार के एक विशिष्ट अंग (अंश) हैं, अतः इनमें भी एक ही समय में अनेक प्रकार के विरोधी गुण अविरुद्ध होकर रहते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिये। कारण श्रीनिम्बार्क भगवान् ने एक श्रीनृसिंहावतार का ही अनुकरण किया था यह बात नहीं, किन्तु दशों अवतारों की ही लीलायें आपने की थीं। इस आशय को 'श्रीनिम्बार्क विक्रान्ति' श्लोक ४४ से ग्रन्थकार स्वयं ही अभिव्यक्त करेंगे॥३५॥

सद्बिंवरूपेण सदा विरस्ते दृश्याय ध्येयाय नमो नमस्ते।
आत्मोक्तिरूपेण यथाऽत्रकृष्णो भक्तानुरक्तश्च सदाविरस्ति॥ ३६॥

यथा (जैसे) अत्र (यहाँ जगत् में) भक्तानुरक्तः (प्रेमीजनों पर अपार अनुराग रखने वाले) कृष्णः (भगवान् श्रीकृष्ण) आत्मोक्तिरूपेण ('यदा यदाहि धर्मस्य' इस अपनी वाणी के अनुसार) सदा (निरन्तर) आविरस्ति (प्रकट रहते हैं) 'वैसे ही' सद्बिम्बरूपेण (शुद्ध बिम्ब-स्वरूप से) 'आप' सदा (निरन्तर) आविरस्ते (प्रकट रहते हैं) 'अतः' दृश्याय (दर्शन करने योग्य) ध्येयाय (ध्यान करने योग्य) ते (आपके लिये) नमः-नमः (बारम्बार नमस्कार है) ॥३६॥

जिस प्रकार आत्मोक्ति रूप से अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सर्व एवायमात्मा, ममैवांशो जीवलोके' इत्यादि श्रुति स्मृतियों में जगत् मात्र ही भगवान् की मूर्ति बतलाई गई है, अतएव भक्त परायण भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ सर्वदा प्रकट हैं हीं उसी प्रकार आप सद्बिम्ब रूप से इस जगत् में सदा ही प्रकट रहते हैं, क्योंकि आप समस्त प्रकाशों के कारण हैं। अतएव लोक में जहाँ-जहाँ प्रकाश दिखाई देता है, वह सभी आपका ही प्रतिबिम्ब (परछाँई, झलक) है। इसलिये

आप ही दृश्य और आप ही हमारे ध्येय हैं, आपको हमारा बारम्बार प्रणाम है ॥३६ ॥

देवर्षिवर्यस्य सुगायतस्ते मूर्तेः समक्षं मधुरं रसाढ्यम्।
सा सात्विकाविष्टसमस्तगात्रा जातप्रतिष्ठा स्वसमाजमध्ये ॥ ३७ ॥
अङ्घ्र्योःपपात व्रजवासनिष्ठा कृष्णस्य वृक्षा अपि संस्थिरा वा।
मूर्च्छावसाने प्रतिमामुखेन संप्रार्थयामासिथ संततं त्वम् ॥ ३८ ॥
श्रीकृष्णसाक्षात्करणं च पार्श्वे देवर्षिमास्पृश्य पदोः स्वकेन।
सौरीव सूर्यस्य समीहितं च संसाद्य हार्दं स्वगुरूपदिष्टम् ॥ ३९ ॥
श्रीनारदादिष्टविधानमाशु संसाधयिष्यन् ककुमां जयाय।
देवर्षिहार्दन्तु विधातुमादौ तद्धर्षहर्षीह मनोदधानः ॥ ४० ॥

मधुरं (मनोहर) रसाढ्यं (रस युक्त) सुगायतः (गाते हुये) देवर्षिवर्य्यस्य (श्रीनारदजी की) मूर्तेः (मूर्ति के) समक्षं (सन्निकट) सात्विकाविष्टसमस्तगात्रा (नख-शिख पर्यन्त अप्राकृत सत्वगुण से परिपूर्ण) स्वसमाजमध्ये (भागवत सम्प्रदाय में) जातप्रतिष्ठा (सर्व पूज्य) सा (वह मूर्ति) कृष्णस्य (श्रीसर्वेश्वर प्रभु (जो कि श्रीसनकादिकों के सेव्य सूक्ष्म शालिग्राम स्वरूप अद्यावधि आचार्य पीठ पर विराजते हैं) 'के' अङ्घ्र्यो (चरणकमलों में) पपात (गिर गई) 'और' व्रजवासनिष्ठाः (ब्रज के अन्दर ही निवास रखने की निष्ठा रखने वाले) संस्थिराः (स्थिर वृत्ति वाले) वृक्षाः (तरुवरों) 'के' अपि वा (समान) स्थिर हो गई।

मृर्च्छावसाने (विदेहता के अनन्तर स्वकेन (अपनी संसेव्य) प्रतिमामुखेन (श्रीसर्वेश्वर की प्रतिमा के द्वारा) पदोः (श्रीनन्दनन्दन के चरणकमलों का) आस्पृश्य (स्पर्श कर) च (और) स्वसमीहितं (अपने अभीष्ट) सूर्यं (सूर्यदेव को) सौरि (सूर्य तेज) "की" इव (भाँति) पार्श्वे (श्रीसर्वेश्वर भगवान् की मूर्ति के समीप ही) श्रीकृष्ण साक्षात्करणम् (परात्पर ब्रह्म के साक्षात्कार कराने वाले) स्वगुरूपदिष्टं (अपने गुरुदेव श्रीनारदजी के द्वारा उपदेश किये हुए) हार्दम् (सम्पूर्ण

निगमागम के सार स्वरूप मन्त्रराज को) संसाद्य (प्राप्त कर) देवर्षि (श्रीनारद जी की) त्वं (आपने) संततं (निरन्तर) सम्प्रार्थयामासिथ (प्रार्थना) की ॥३७॥३८॥३९॥

तु (फिर) इष्टविधानम् (अभीष्ट कार्य को) श्रीनारदात् (श्रीनारदजी से) आशु (शीघ्र ही) संसाधयिष्यन् (साधन करते हुए) तद्धर्ष हर्षी (श्रीनारदजी के हर्ष में ही अपना हर्ष मानने वाले) "आपने", देवर्षि हार्दं (श्रीनारदजी के हार्दिक भाव, श्रीकृष्णप्रभु की पराभक्ति को) विधातुं (विशिष्ट प्रसार करने के लिये) आदौ (सर्व प्रथम) ककुभांजयाय (दिग्विजय के लिये) मनः (मन को) दधानः (लगाया) ॥४०॥

नैमिषारण्य निवासि ऋषियों की प्रार्थनानुसार निर्विघ्न यज्ञ की समाप्ति कर, लोक में भगवद्भक्ति के प्रचारार्थ एवं सत्-सम्प्रदाय परम्परा के संचालनार्थ श्रीनिम्बार्क भगवान् मनोहर रसपूर्ण सुन्दरगान करने वाले देवर्षिवर्य श्रीनारदजी की मूर्ति के सन्निकट पधारे, उनके दर्शन करने के अनन्तर भागवत् सम्प्रदाय में सर्वपूज्य श्रीनिम्बार्क भगवान् की वह अप्राकृत सत्वगुणमयी मूर्ति श्रीनारदजी को परम्परान्तर्गत श्रीसनकादिकों से सम्प्राप्त श्रीसर्वेश्वर भगवान् के चरणकमलों में गिर गई और ब्रज के निवासी वृक्षों के समान स्थिर बन गई, मानों मूर्च्छित ही हो गई हो। फिर अपनी संसेव्य उसी श्रीसर्वेश्वर की प्रतिमा के द्वारा श्रीकृष्णप्रभु के चरणों को संस्पर्श कर जैसे सूर्य को सूर्यप्रभा प्राप्त होती है वैसे ही अपने अभीष्ट मन्त्रराज जो कि भगवान् की प्रतिमा के समीप ही श्रीनारदजी से प्राप्त कर शिष्यभाव से उनकी आपने निरन्तर प्रार्थना की। अर्थात् निरन्तर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत की पालना करते हुए भगवद्भक्ति में निरन्तर रत रहने लगे।

श्रीनारद महामुनीन्द्र जब से प्रादुर्भूत हुए तभी से आनन्दकन्द श्रीब्रजचन्द की भक्ति में लीन रहने लगे, और अन्य प्राणियों को भी

वे सदा–सर्वदा भगवान् की भक्ति करने का ही उपदेश देने लगे। दक्ष प्रजापति के हजारों पुत्रों को साधु बनाकर उन्होंने इस संसारसिन्धु का किनारा ग्रहण करवा दिया। इसलिये श्रीनारदजी का सदा हार्दिक भाव यही रहता है कि, सांसारिक जनता भक्ति–कल्पतरु का आश्रय लेकर अपनी समस्त विपत्तियों से छुटकारा पा जाय। वे इसी को अपना कर्त्तव्य और इसी में वास्तविक आनन्द मानते हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् को भी श्रीनारदजी ने यही अपना हार्दिक भाव उपदेश किया था। अत: श्रीनारद भगवान् के ही हर्ष में अपने को हर्षित मानने वाले और उनके उपदेश किये हुए हार्दिक भाव को शीघ्र ही व्यापक बनाने के लिये दत्त–चित्त होकर समस्त दिशाओं को विजय करने वाले श्रीमदाचार्य चरणों में मेरा प्रणाम है॥३७॥३८॥३९॥४०॥

सद्बिम्बरूपेण विराजमानस्तत्रैव चाचार्यवपुः प्रतस्थे।
वृन्दावने नन्दतनूज आढ्यो वा वासुदेवः क्षितिभारहारी॥४१॥

च (और) सद्बिम्बरूपेण (उस अपने मूलस्वरूप से) तत्र (वहाँ पर) एव (ही) विराजमान: (विराजमान रहते हुए) आचार्यवपुः (आचार्य–विग्रह के रूप से) प्रतस्थे (प्रस्थान किया) वा (जैसा कि) आढ्य: (सर्व विध सम्पन्न) नन्दतनूज: (श्रीनन्दनन्दन) वृन्दावने (श्रीधाम वृन्दावन में) "विराजमान रहते हुए ही" क्षितिभारहारी (पृथ्वी का भार उतारने वाले) वासुदेव: (वासुदेव के रूप से) "मथुरा को प्रस्थान किया था"॥४१॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की भक्ति का सर्वत्र प्रचार करने के लिये जहाँ कि श्रीवृन्दावन धाम में श्रीकृष्णप्रभु ने अवतार लिया था और श्रीवसुदेवजी की कामना पूर्ण करने के लिये मधुपुरी में प्रकट होकर पृथ्वी का भार उतारा था, उसी परम दिव्य श्रीब्रजमण्डल में बिम्ब रूप (श्रीरंगदेवी के स्वरूप) से श्रीनन्दनन्दन के सन्निकट रहते हुए

ही आपने वहाँ आचार्य विग्रह धारण किया, और इस आचार्य रूप में ही दिग्विजय कर भगवद्भक्ति का सर्वत्र प्रचार किया ॥४१ ॥ ★

एवं सदा ध्येयकलेवरस्त्वं देवर्षिशिष्यत्वमिहैक्षयिष्यन्।
ऐतिह्यनिर्वाहकृते सदाविः श्रुत्यर्थशिक्षी भगवन्गुरोऽभूः ॥४२॥
आम्नायनिःश्वासवरौ प्रभू वा काश्येशशिष्यत्वमजादिशिक्षौ।
देवर्षिशिष्याय नमो नमस्ते तस्मै नमस्ते श्रुतिरक्षकाय॥४३॥

भगवन् (हे छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण!) गुरो (हे गुरुदेव!) एवं (इस प्रकार) सदाध्येयकलेवरः (सदा ध्यान करने योग्य शरीरवान्) त्वं (तुम) इह (इस लोक में) सदा (सर्वदा) ऐतिह्यनिर्वाहकृते (शास्त्र

★ इस श्लोक में औदुम्बराचार्यजी ने "वृन्दावने नन्दतनुज" और "आद्यो वा वासुदेवः" ये दो पद रखे हैं, जिससे कुछ विद्वान् यह भाव प्रकट करते हैं कि-भगवान् श्रीकृष्ण के दो अवतार हुए हैं, एक तो परात्पर परब्रह्म सम्पूर्ण अवतारों और अवतारियों के भी अंगीभूत साक्षात् श्रीगोलोकाधिपति का जो कि श्रीनन्दजी के अजिर में हुआ है, श्रीमद्भागवत में "अन्ये चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" यह वाक्य इनको ही पूर्णब्रह्म बतलाता है। दूसरा श्रीमधुपुरी (मथुरा) में श्रीवसुदेवजी के गृह में हुआ है, यह महाविष्णु का अवतार था, जब वसुदेवजी उसे गोकुल ले गये और वहाँ श्रीयशोदाजी के समीप रखा, तब वह उसी पूर्णब्रह्म में लीन हो गया और जब अक्रूर वृन्दावन से उनको मथुरा लाये तब वही वसुदेवनन्दन मथुरा वापिस आये थे, न कि नन्दनन्दन। कारण, नन्दनन्दन की तो यह प्रतिज्ञा ही है कि:- "वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गम्यते" इति। श्रीवृन्दावन धाम को छोड़कर मैं एक पैंड भर भी बाहर नहीं आता। हाँ वे श्रीनन्दनन्दन वसुदेवनन्दन के मथुरा जाने के अनन्तर श्रीधाम में अव्यक्त रूप से विहार करने लगे। अतः गोपिकाओं को विरह प्रतीत होने लगा, किन्तु वह वास्तविक विरह नहीं था, केवल जगत् में गोपिकाओं की कृष्ण- भक्ति को महत्व देने के लिये ही भगवान् ने यह अव्यक्त लीला की थी। किन्तु कई एक साम्प्रदायिक विद्वानों ने इस दो प्रकार के अवतारबाद में अरुचि प्रकट की है; इसलिए इसकी विशिष्ट समालोचना हम फिर अन्यत्र करेंगे।

– अनुवादक

मर्यादा का पालन होते रहने के लिये) देवर्षिशिष्यत्वम् (लोक कल्याणकारी श्रीनारदजी के शिष्य बन उनके गुरुत्व भाव को) एक्षयिष्यन् (दिखलाते हुए) श्रुत्यर्थशिक्षी (वेद प्रतिपाद्य सदाचार की शिक्षा प्रदान करने योग्य विग्रह से) आविर् (प्रकट) अभू: (हुए) वा (जैसे कि) (मानो) अजादिशिक्षौ (ब्रह्मादिदेवों को भी शिक्षा देने वाले) आम्नायनि:श्वासवरौ (नि:श्वासरूप श्रुति समूह में श्रेष्ठ प्रतिपाद्य) प्रभू (श्रीकृष्णचन्द्र और वलभद्र दोनों ने) काश्येशशिष्यत्वम् (सान्दीपन की शिष्यता को) "धारण किया था", वैसे ही, श्रुतिरक्षकाय (वेद की मर्यादा को पालन करने वाले) देवर्षिशिष्याय (श्रीनारदजी के शिष्य) तस्मै (उस) ते (तुम्हारी मूर्त्ति के लिये) नम: नम: नम: (बारम्बार नमस्कार है) ॥४२॥४३॥

हे भगवन्! हे गुरो! यद्यपि देव, पितर, गन्धर्व, ऋषि–मुनि, नर किंनर सभी के आप ध्येय स्वरूप हैं, अतएव आप ही समस्त जगत् को सत्पथ प्रदर्शन कराने वाले गुरु हैं, किन्तु आपने शास्त्र मर्यादा की रक्षा करने के लिये महर्षि श्रीनारद भगवान् की शिष्यता स्वीकार कर जगत् के अन्दर गुरु–शिष्य भाव की प्रणाली और सुदृढ़ शिक्षा का प्रचार किया और भावी प्राणियों को गुरुचरणों की सेवा का आदर्श दिखला दिया, कारण, वेद के "स गुरुमेवाभिगच्छेत्, आचार्यदेवो भव", इत्यादि वाक्यों के ऐसे–ऐसे गूढ़तात्पर्यों की शिक्षा देने के लिये ही आपने अवतार धारण किया था॥४२॥४३॥

ब्रह्मर्षिविष्णोर्नियमस्त्वमेवमानन्दआहुर्नियमानदन्त्वाम्।
सङ्कल्पनिर्देशसमाधिपूर्त्रे तस्मै नम: सर्वसमृद्धिकर्त्रे॥४४॥

एवं (इस प्रकार) त्वं (तुम) ब्रह्मर्षिविष्णो: (ब्रह्मर्षियों के अन्दर व्यापक रूप से स्थित रहने वाले विष्णु भगवान् के) नियम: (नियम) "और", आनन्दम् (आनन्द के स्वरूप हो) "अत:", त्वां (तुमको) नियमाऽनदं (सब प्रकार से नियमों के स्रोतों को बहाने वाले) आहु: (वेदव्यास आदिक ऋषिजन कहते हैं) "इसलिये"

सङ्कल्पनिर्देशसमाधिपूर्त्रे (भगवान् के साधु परित्राण रूप सङ्कल्प और पृथ्वी पर अवतीर्ण होने की आज्ञा रूपी समाधान की पूर्त्ति करने वाले) सर्वसमृद्धिकर्त्रे (सर्व उपासकों की समृद्धि को बढ़ाने वाले) तस्मै (तुम्हारे लिये) नमः (नमस्कार करता हूँ) ॥४४॥

हे प्रभो! आप ब्रह्मा ऋषिमुनि आदिक समस्त चराचर के व्यापक जगदाधार के नियम हैं, अर्थात् समस्त प्रजा का शासन करने वाले हैं। अथवा जहाँ-जहाँ पर जगदाधार रहते हैं, वह स्थल आप से रिक्त (शून्य) नहीं रह सकता, अतएव आपको नियमों का एक विस्तृत समुद्र कहते हैं, क्योंकि आप भक्तों के सङ्कल्पों की और श्रीकृष्ण के-

सुदर्शन! महाबाहो! कोटिसूर्यसमप्रभ!।
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ॥

इस निर्देश की अर्थात् मृत्युलोक निवासियों को पथ विभ्रष्ट होते देखकर भगवान् ने अपने चक्रराज श्रीसुदर्शन से यह निर्देश किया, कि हे कोटिसूर्यप्रकाशी महाबाहो! सुदर्शन तुम मृत्युलोक में मानव अवतार धारण कर अज्ञानान्धकार में डूबे हुए एवं सन्मार्ग को छोड़कर इधर-उधर भटकने वाले प्राणियों को मेरे मार्ग (पराभक्ति) का दर्शन कराओ, अर्थात् दिखाओ। इस विष्णु भगवान् की आज्ञा की, एवञ्च ज्ञान से नित्य सुख प्राप्ति होती है। अथवा कर्म से उस सुख की प्राप्ति होती है? और दुर्गा, भैरव, शंकर ही उपासनीय हैं या सूर्य, गणेश, विष्णु ही पूजनीय हैं? अथवा इनसे भी अधिक और कोई उपास्य देव है या नहीं? इत्यादि सन्देहों की "नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्" इत्यादि उपदेशों द्वारा आप पूर्ति (पूर्ण) करने वाले अथ च शरणागत जनों को सब प्रकार की समृद्धियाँ देने वाले हैं, अतः आपको मैं प्रणाम करता हूँ॥४४॥

यज्ञाद्यमुद्दिश्य चकर्थ भूमिं भूयोनिरुग्रामिव भार्गवस्त्वम्।
विप्रं निमित्तं विदधान आर्षस्तस्मै नमो रामचरित्रकर्त्रे॥४५॥

यज्ञाद्यम् (यज्ञ आदि कर्मों को) उद्दिश्य (उद्देश मानकर) आर्ष: (ऋषि रूप में अवतार लिये हुए) भार्गव: (श्रीपरशुराम) इव (के समान) विप्रम् (ब्राह्मण समूह को) निमित्तम् (निमित्त) विदधान: (मानता हुआ) भूय: (बारम्बार) भूमिम् (पृथ्वी को) निरुग्राम् (दुष्टों से रहित) चकर्थ (बनाया) तस्मै (उस) रामचरित्रकर्त्रे (श्रीपरशुराम के चरित्र का अनुकरण करने वाले) "आपके लिये" नम: (नमस्कार है) ॥४५॥

यज्ञ आदिक सत्कर्मों के निमित्त ऋषिराज श्रीपरशुरामजी की तरह ब्राह्मण समुदाय को निमित्त मानकर बारम्बार आपने इस भूमि को दुष्टों से रहित बनाई। अतएव भगवान् श्रीपरशुराम के चरित्र का अनुकरण करने वाली आप की प्रतिमा को नमस्कार है॥४५॥

जङ्गम्यमानादसुरा विलिल्युरुद्विग्नचित्ता गरुड़ादिवाहि:।
पाखण्डखण्डाश्च विडम्बिता ये दुर्दण्डचण्डास्तु विखण्डितास्ते॥४६॥
तीक्ष्णारकुष्टा: कदनं समीयुस्तस्मै नमस्ते गरुड़ोपमाय॥

गरुडात् (गरुड़ से) अहि: (सर्प समूह) इव (भाँति) जङ्गम्यमानात् (आपके चलने से) असुरा: (राक्षस) उद्विग्नचित्ता: (उद्विग्न चित्त होकर) विलिल्यु: (दौड़ने लगे) ये (जो) पाखण्ड खण्डा: (मायिक व्यापारों को फैलाने लगे) ते (वे) विडम्बिता: (परास्त हुए) च (और) दुर्दण्डचण्डा: (जो क्रूर स्वभाव वाले थे, वे) विखण्डिता: (अंग-भंग हुए) तु (और) "जो" तीक्ष्णारकुष्टा: (तीक्ष्ण दाढ़ आदि का प्रहार करने वाले थे) 'वे' कदनं (विनाश को) समीयु: (प्राप्त हो चुके) तस्मै (उस) गरुडोपमाय (गरुड़ की उपमा को अभिव्यक्त करने वाले) ते (आपके लिये) नम:-नम: (बारम्बार नमस्कार है) ॥४६॥

हे चक्रराज! जैसे गरुड़ को देखते ही सर्प तितर वितर होकर अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही आपको आते हुए देखकर आपके असह्य तेज से राक्षसगण तत्क्षण लुप्त हो गये हैं, और उनके फैलाये हुये पाखण्ड भी वायु के झकोरों से बादलों की भाँति विलीन हो गये, हे

अमित तेज! जो दुर्दण्ड राक्षस आपके आगे से नहीं भगे, वे उसी जगह तत्काल टुकड़े-टुकड़े हो गये और जो अपने पराक्रम का अभिमान रखकर तीक्ष्ण डाढ़ वाले दैत्य आपके सन्मुख दौड़े वे तो बस चूर-चूर ही हो गये, इस प्रकार गरुड़ की उपमा को व्यक्त करने वाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ॥४६॥

विश्रस्तपोतं त्वतिभारभग्नं कूर्मो यथाद्रिं तरददिरूपः॥४७॥
पृष्ठेन स स्वप्रजमुज्जहर्थ योगेन योगेश्वरहर्षदर्शी।
पोतस्थमध्ये स्वयमीहमानो विष्णुर्यथा देवगणस्थ एव॥४८॥
प्रत्यैरथार्थं विहतं पुनर्यस्तस्मैः नमः कूर्मकलाविधात्रे।

तरदद्रिरूपः (तैरते हुए पहाड़ के सदृश) कूर्मः (कूर्मावतार भगवान् ने) पृष्ठेन (पीठ के द्वारा) यथा (जैसे) अद्रिं (मन्दराचल पर्वत को) 'और' यथा (जैसे) स्वयं (आप) एव (ही) ईहमानः (इच्छा पूर्वक) देवगणस्थः (देवताओं की मण्डली में बैठे हुए) विष्णुः (क्षीरोदशायी भगवान् ने) पोतस्थमध्ये (नौका में स्थितों में से) सस्वप्रजम् (अपनी प्रजा को) तु (एवं) योगेश्वर हर्षदर्शी (योगीजनों के आनन्द को देखने वाले) 'आपने' योगेन (अपने योग बल से) अतिभारभग्नं (अत्यन्त भार से फूटी हुई) विश्रस्तपोतं (और डूबती हुई नौका को) उज्जहर्थ (उद्धार किया) अथ (उसके अनन्तर) पुनः (फिर) यः (जो) विहतं (नष्ट होते हुए) अर्थं (द्रव्य को) प्रत्यैः (फिर से हस्तंगत करवाया) तस्मै (उस) कूर्मकलाविधात्रे (कूर्मावतार भगवान् की कला को धारण करने वाले) 'श्रीनिम्बार्क भगवान् को' नमः (नमस्कार हो)॥४७॥४८)

श्रीनिम्बार्काचार्यजी को शास्त्र में और लोक में भगवान् कह कर स्मरण करते हैं अर्थात् श्रीनिम्बार्क भगवान् कहते हैं। परन्तु भगवान् शब्द का अर्थ शास्त्रकारों ने यह किया है कि, जिसमें छः भग हों वही भगवान् कहला सकता है। वे छः भग ये हैं। यथा–

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

अर्थात् हेय गुणों के बिना ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज ये छओं जिनमें सम्पूर्ण हों, वही भगवत् शब्द का वाच्य है, किन्तु ये भग तो सम्पूर्णतया परमात्मा में ही रहते हैं, फिर श्रीनिम्बार्काचार्यजी को 'भगवान्' कैसे कहते हैं।' इसी प्रकार शास्त्र में भगवान् शब्द का और भी लक्षण किया है-

यथा- उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥

अर्थात् जो समस्त संसार की उत्पत्ति और प्रलय एवं भूत प्राणियों की स्थिति और प्रवृत्ति एवं विद्या और अविद्या इन छओं बातों को जानता हो वह भी भगवान् कहला सकता है। उपरोक्त सन्देह उन्हीं प्राणियों को होता है, जिनको कि श्रीनिम्बार्क भगवान् के चरित्रों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है, कारण वे छओं प्रकार के भग यद्यपि परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण में ही हैं तथापि उनके परम प्रिय आयुधराज श्रीसुदर्शन में भी उन छओं भगों का बहुत कुछ विकास स्थित है, अतएव जैसे सम्पूर्ण अवतारों के अवतारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अंश कला, आवेश आदि अनेकों अवतारों में से मुख्य दश अवतारों ने जो कुछ लीलायें की थीं, उन सब का अनुकरण श्रीनिम्बार्क भगवान् की लीलाओं में मिलता है, अर्थात् श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भगवान् के दशों अवतारों की लीलायें की हैं। अतः श्रीनिम्बार्काचार्यजी को स्वभाव से ही भगवत्ता प्राप्त है। ⋆

⋆ श्रीनिम्बार्काचार्यजी को स्वभाव से ही भगवत्ता प्राप्त है इस लेख का आशय यह है कि शास्त्र में कल्पों के भेद से श्रीनिम्बार्कावतार के भी प्रभेद माने हैं, अर्थात् किसी कल्प में तो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र के ही अवतार माने हैं, और किसी कल्प में श्रीअनिरुद्ध तथा श्रीसुदर्शन के अवतार माने हैं। अतः प्रादुर्भाव समय में भी प्रभेद मिलते हैं, जैसे कि किसी कल्प में कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को श्रीनिम्बार्कावतार होना लिखा है और किसी कल्प में वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रीनिम्बार्काचार्यवतार होना लिखा है, इसी प्रकार किसी

अतएव यहाँ से श्रीनिम्बार्क भगवान् ने जिन-जिन अवतारों की जो-जो लीलायें की हैं, उनका वर्णन करते हैं। जिनमें से परिपूर्णतम अवतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र केवल ८७वें श्लोक में प्रतिज्ञा मात्र की है, आगे अनेक स्थलों में विशेष रूप से प्रकट करेंगे और श्रीनृसिंहवतार के चरित्रानुसारिणी लीला का २५वें श्लोक से ३५वें श्लोक तक वर्णन किया है। तथा मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र के अनुकरण उदाहरण ५४ से ५६ तक के श्लोकों में दिया जायगा, अब यहाँ श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीनृसिंह इन तीनों पूर्णावतारों के अतिरिक्त अवतारों की लीलाओं की उपमा श्रीनिम्बार्क भगवान् के चरित्र में प्रदर्शित कराते हैं।

श्लोकार्थः-जैसे भगवान् ने कूर्म (कच्छप) अवतार धारण कर मन्दराचल पर्वत को अपने पृष्ठभाग पर धारण कर अपनी सात्विक प्रजा (देवताओं) को अमृत की प्राप्ति कराई, वैसे ही आपने एक विशाल पर्वत के सदृश बहुत से मनुष्यों तथा अनेक वस्तुओं से भरी हुई नौका को जो कि नीचे से किसी प्रकार फट कर ब्रह्मपुत्रा नदी में

समय तैलंग देश में अरुणऋषि के गृह जयन्तीदेवी से प्रकट होना लिखा है, तो किसी समय ब्रज प्रदेशीय गोवर्धनगिरि के सन्निकट जगन्नाथ द्विजवर के गृह सरस्वती देवी से प्रकट होना लिखा है। इन सभी प्रभेदों का कारण यही है कि किसी कल्प में भगवान् ही निम्बार्क रूप से अवतार लेते हैं, और किसी कल्प में अपने परम प्रिय आयुधराज श्रीसुदर्शन को अवतार रूप से प्रकट कर भक्तों की प्रतिपालना करवाते हैं, इस विषय को विस्तारपूर्वक विशिष्ट प्रमाणों से हम इसी ग्रन्थ के आगामी 'कृष्णस्यह्याचार्यवपुर्भवान् श्री' इस १०२ संख्यक श्लोक की टीका में स्पष्ट करेंगे। ग्रन्थकारों ने दोनों ही प्रकार के अवतारों के चरित्रों को सम्मिश्रण कर उनका वर्णन किया है, क्योंकि भगवान् के अवतार होने से तो श्रीनिम्बार्क भगवान् में भगवत्ता का सन्देह ही क्या होगा, सुदर्शनावतार होने पर भी सन्देह नहीं करना चाहिये, कारण श्रीसुदर्शन भगवान् के नित्य पार्षद हैं, अतः प्रायः भगवान् के समान ही गुणाशाली होने से उनके अवतार में भी भगवत्ता सूचक गुण क्यों न विकसित हों।

डूब गई थी, उसको अपने योगवल से पानी के ऊपर निकाल कर उसमें बैठे हुए समस्त प्राणियों के प्राण बचाये, और आप स्वयं उस नौकारूढ़ भक्तों के बीच में स्थित होकर ऐसे सुशोभित हुए, मानों देवगणों में साक्षात् श्रीविष्णु भगवान् ही विराज रहे हों, इस प्रकार पानी में डूबने से विनष्ट होने वाली वस्तुओं का पुनरुद्धार कर श्रीकूर्म भगवान् की लीला के समान लीला करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥४७॥४८॥

अनेक स्थलों में इस चरित्र की आख्यायिका ऐसे भी मिलती है कि, समुद्र तुल्य विशाल ब्रह्मपुत्रा महानदी में तीर्थाटन के लिये गये हुए नैमिषारण्य वासी ऋषि, तथा परिचारक भक्तगणों से भरी हुई नौका फट कर जब डूबने लगी, तब उन ऋषियों ने अपने संरक्षक श्रीसुदर्शनावतार भगवान् श्रीनिम्बार्क का ध्यान धर कर आर्त्तस्वर से उनकी विनम्र प्रार्थना की, तब नैमिषारण्य में स्थित श्रीनिम्बार्क भगवान् ऋषियों की प्रार्थनानुसार अपने योगबल से वहाँ जा पहुँचे, किन्तु वह नौका उस समय डूब चुकी थी, इसलिये श्रीनिम्बार्क भगवान् स्वयं जल में प्रविष्ट हो उसी नौका में बैठकर, उसको योगबल से जल के ऊपर उठा लाये॥४८॥

नीरादधस्ताज्जलगामगाधादुद्धृत्य चिच्छक्तिबलेन चोच्चैः॥४९॥
विन्यस्तपोतग्रहमङ्गसत्वमञ्जो वराहो हि तिरश्चकर्थ।
भूमिं रसाया असुराच्च यद्वत्तस्मैः नमः शूकरवद्विहर्त्रे॥५०॥

रसायाः (रसातल से) भूमिं (पृथ्वी) च (और) असुरं (हिरण्याक्ष दैत्य को) वराहः (वाराह भगवान् ने) यद्वत् (जैसे) तिरश्चकर्थ (खींचा था) "वैसे"................अगाधात् (अथाह) नीरात् (जल के) अधस्तात् (नीचे से) अङ्गसत्वं (अपने अंशरूप जीव समुदाय युक्त) पोतग्रहं (नौका रूपी महाग्रह को) चिच्छक्तिवलेन (अपनी चैतन्य शक्ति के पराक्रम से) अञ्जः (सहज में) हि (ही) उद्धृत्य (ऊपर को खींचकर) उच्चैः (जल के ऊपर) विन्यस्य (स्थापित कर) शूकरवद्विहर्त्रे (वाराह

भगवान् की भाँति नौका को तैराने वाले) तस्मै (उन श्रीनिम्बार्क भगवान् के लिये) नमः (नमस्कार हो) ॥४९ ॥५० ॥

भावार्थः-पूर्वोक्त श्लोकों से श्रीनिम्बार्काचार्य के चरित्र में कूर्मावतार की तथा मत्स्यावतार की लीला का समत्व प्रकट किया गया, अब उसी चरित्र में वाराह भगवान् की लीला का भी समत्व प्रकट करते हैं। अर्थात्, जैसे राक्षसों के द्वारा अगाध रसातल में ले गई हुई भूमि का वाराह भगवान् ने अपने अङ्ग सत्व (डाढ़) पर धारण कर अगाध पानी से उद्धार किया था, वैसे ही आपने अपनी चिच्छक्ति (योग) के बल से अगाध पानी में डूबी हुई नौका (जो कि नौका रूपी एक छोटा-सा पुर ही था) का उद्धार किया। इसलिये हे वाराह भगवान् के चरित्र का अनुकरण करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥४९ ॥५० ॥

चक्रेण रूपेण विखण्ड्य तुण्डं नक्रस्य पीतग्रसनम्य कार्ष्णे!
सम्मोचयामासिथ तंङ्गृहीत्वा तुण्डे हरिर्वेभपति प्रपन्नम् ॥५१ ॥
तस्मै नमस्ते हरिवद्विहर्त्रे श्रीकृष्णशस्त्रौघनियामकाय।

कार्ष्णे (हे श्रीकृष्ण के अन्तरंग!) पोतग्रसनस्य (गजराज को ग्रसने वाले) नक्रस्य (ग्राहके) तुण्डं (मुख को) चक्रेण रूपेण (चक्र रूप से) विखण्ड्य (छेदन कर) तुण्डे (मुख में) प्रपन्नं (पड़े हुए) इभपतिं (गजेन्द्र को) हरिः (श्रीकृष्ण ने) "बचाया था" "वैसे ही" तं (उस नौकारूपी गज को) गृहीत्वा (ग्रहण कर) संमोचयामासिथ (तुमने निकाला) "अतः" तस्मै (उस) श्रीकृष्णशस्त्रौघनियामकाय (श्रीकृष्णचन्द्र के शस्त्र समुदायाधिपति) हरिवद्विहर्त्रे (और, हरि भगवान् की भाँति लीला करने वाले) ते (आपको) नमः (नमस्कार) है॥५१ ॥५२ ॥

हे कार्ष्णे! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रिय आयुध! जिस प्रकार चक्ररूप आपके द्वारा भगवान् ने ग्राह के मुख को खण्ड-खण्ड करके

शरणागत गजराज की रक्षा की, उसी प्रकार आपने भी उस नौका को पकड़ने वाले महान् मगर को अपने तेज से छेदन कर शरणापन्न ऋषियों का नौका के सहित योगरूपी अपने मुख्य अङ्ग से ग्रहण कर उद्धार किया। यह श्लोक दूसरे भाव से भी लगाया जा सकता है जैसे कि- हे प्रभो! संसार-रूपी ग्राह से ग्रसे हुए शरणागत-भक्तों की अपनी सुधावाणी से सिचिंत करते हुए सत्सम्प्रदाय में प्रविष्टकर जन्म-मरण-रूपी भयंकर ग्राह से रक्षा की। अतः भगवान् के अनुसार विहार करने वाले श्रीसर्वेश्वर कृष्णचन्द्र के आयुधों के केन्द्रस्वरूप अतएव समस्त चराचर को अपने नियन्त्रण में रखने वाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ। (यहाँ पर हरि अवतार की लीला का समत्व श्रीनिम्बार्क-भगवान् के चरित्र में दिखलाया गया है।) ॥५१॥

एकाब्धिवद्ब्रह्मसुते विशाले गव्यूतिसार्द्धद्वित्तयप्रमाणे ॥५२॥
नावंविधृत्वा तरदद्रिरूपेणाभ्रामयो यद्वदनेन मत्स्यः ॥
सत्यव्रतं सर्षिगणं सवीजां सद्धर्मवर्गं जनमभ्यधत्थाः ॥५३॥
तस्मै नमस्ते तरदद्रिरूपेणाभीष्टवृणमत्स्यकृतानुकर्त्रे ॥

सर्षिगणं (ऋषिवृन्द सहित) सत्यव्रत (मनु को) सवीजाम् (बीजों के सहित सूक्ष्मभूमि) "और" सद्धर्मवर्गं (अनादि सनातन धर्मावलम्बी) जनं (जन समुदाय को) मत्स्यः (मत्स्यावतार धारी भगवान् नें (यद्वत् (जैसे) "बचाया था", "वैसे ही", गव्यूतिसार्द्धद्वित्तयप्रमाणे (पाँच कोश विस्तृत) एकाब्धिवत् (एक जलमय महोदधि की भाँति) विशाले (अगाध) ब्रह्मसुते (ब्रह्मपुत्रामहानद में) अनेन (इस) तरदद्रिरूपेण (तैरते हुए पर्वत के समान रूप से) नावं (नौका को) विधृत्वा (ग्रहणकर) अभ्रामयः (आगे बढ़ा दी) "और:", जनम् (जन समुदाय को) अभ्यधत्थाः (बचा लिया) "अतः", तरदद्रिरूपेण (तैरते हुए गिरितुल्य रूप से) अभीष्टवृणमत्स्यकृतानुकर्त्रे (अभीष्टवर्षीमत्स्यावतार के चरित्र का अनुकरण करने वाले) तस्मै (उस) ते (तुम्हारी मूर्त्ति को) नमः (नमस्कार है) ॥५२॥५३॥५४॥

हे गुरो!!! जगत् जब एकमात्र जलमय ही जलमय बन चुका था उस समय पाँच कोश परिमाण वाली एक नौका को पहाड़ सदृश अपने मुख से मत्स्य भगवान् ने चलाई, और वीजों के तथा ऋषिगणों के सहित सत्यव्रत ऋषि के प्राण बचाये, उसी प्रकार आपने भी इस अपार संसार-सागर से पार कर देने वाली नौकारूप पंचपदी विद्या अपने मुखकमल से जगत्सिन्धु पर छोड़ी और उसमें कामबीज एवं ऋषिगणों सहित "सत्य व्रत"-अर्थात् सत्यप्रतिज्ञा कर आपकी शरण में आने वाले भक्तवृन्द (साम्प्रदायिक सज्जनों) को आपने तार दिया और स्वयं भी बड़े विशाल पर्वत की भाँति नैष्ठिक व्रत का पालन कर जगत्-सिन्धु पर तैरते रहे। अतः मत्स्यावतार के चरित्र के अनुकरण करने वाले आपको मेरा शतशः प्रमाण है॥५२॥५३॥

पारं नदं यस्तरदद्रिसेतुनोल्लंघयित्वा रघुनाथवद्धि॥५४॥
सार्थं समुद्रं समयापयः, श्रीरामानुभावप्रतिदर्शकस्त्वम्।
प्रत्यागतान्तिकसंस्थिताय तातप्यमानः स महानदस्तु॥५५॥
पारं ददौ दाशरथाय कंधिः कृष्णाङ्कशूरात्मभवाय यद्वत्।
सौरी सवेगा सुतरङ्गभङ्गा तस्मै नमस्ते भगवत्प्रभाव!॥५६॥

प्रत्यागताय (निकट आये हुए) अन्तिकसंस्थिताय (और समीप खड़े हुए) दाशरथाय (श्रीरामचन्द्र के लिये) तातप्यमानः (संतप्त) महानदः (अपार) कंधिः (समुद्र ने) तु (और) कृष्णाङ्क (हे श्रीकृष्ण-चन्द्र के कराम्बुजीय चिन्ह) शूरात्मभवाय (श्रीबलराम अथवा श्रीकृष्णचन्द्र के लिये) सुतरङ्गभङ्गा (तरङ्गों को छिन्न-भिन्न की हुई) सवेगा (प्रबल वेगवती) सौरी (यमुना ने) यद्वत् (जैसे कि) पारं (एक तट से दूसरे तट जाने को मार्ग) ददौ (दिया) "तद्वत्" भगवत्प्रभाव (हेभगवत्प्रभावस्वरूप!) त्वं (आप) श्रीरामानुभावप्रति दर्शकः (श्रीदाशरथी एवं श्रीबलभद्रराम की लीला के अनुकरण को दिखाने वाले) "असि", हि (क्योंकि) रघुनाथवत् (श्रीरघुनाथजी की भाँति)

तरदद्रिसेतुना (तैरते हुए पहाड़ की सेतु के द्वारा) समुद्रं (समुद्र सदृश) नद (ब्रह्मपुत्रामहानद को) उल्लङ्घयित्वा (लाँघ कर) सार्थं (यात्रिवर्ग को) "शरणागतों को", पारं (तटपर) समयापयः (पहुँचाया) तस्मै (उस) ते (तुम्हारी मूर्त्ति के लिये) नमः (नमस्कार है) ॥५४॥५५॥५६॥

जब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र समुद्र के तट पर पहुँचे और मार्ग की याचना करने पर भी जब जड़ समुद्र ने भगवान् को मार्ग नहीं दिया, तब भगवान् ने क्रुद्ध होकर धनुष उठाया तो समुद्र भयभीत हुआ और सन्तप्त होकर भगवान् को सेतु बाँधने की सम्मत्ति प्रदान की। भगवान् श्रीरामचन्द्र भी अपने बन्दर भालुओं द्वारा पर्वतों का सेतु बनवाकर उस समुद्र से पार गये, एवं उन बन्दर भालुओं को भी पार लगा दिया। इसी प्रकार श्रीबलरामजी ने भी एक समय रास करते हुए श्रीयमुनाजी को अपने समीप आने की आज्ञा दी, किन्तु श्रीयमुनाजी ने श्रीबलदाऊजी के प्रभाव को अभिव्यक्त करवाने के लिये, उस आज्ञा की सुनी अनसुनी की भाँति उपेक्षा कर दी, अतः श्रीबलदाऊजी ने क्रोध कर अपने हल से श्रीयमुनाजी को खैंच लिया। (यह अभिप्राय ★ श्रीमद्भागवत तथा गर्ग संहिता में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।) और अपनी रुचि के अनुसार रासक्रीड़ा की। बस उसी प्रकार निम्बार्क भगवान् ने भी 'अद्रिसेतु' अर्थात् भगवदुपासना रूपी दृढ़ सेतुका के द्वारा इस प्रवल-प्रवाह वाले अपार समुद्र को तिरस्कृत बनाकर अनन्त भक्तजनों का संसार-समुद्र से उद्धार किया, अतः श्रीरघुनाथजी और श्रीबलदाऊजी के अनुकरण

★ **स आजुहाव यमुनां जल क्रीडार्थमीश्वरः।**
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः॥
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह।
पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाऽऽहुता॥
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेणशतधा कामचारिणीम्॥

[श्रीमद्भागवत स्क० १० उ० अ० ६५ श्लोक २३-२४]

करने वाले भगवान् श्रीसर्वेश्वर की एक विशेष शक्ति रूप उन श्रीनिम्बार्क भगवान् को मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ॥५४॥५५॥५६॥

भूदेवयोर्दम्पतिमात्रयोस्तु श्रीकृष्णसंविष्टधियोः सदैव।
संत्यक्तसंभुक्तिकयोः सुभक्त्योदासीनयोलोकयुगे ह्यसून्वोः॥५७॥
सत्त्कर्णयोः काननसंविविक्ष्वोः संयाचितोऽभूस्तनयः सदुक्त्या।
नंदादिवृन्दावनवासिनां वा श्रीकृष्ण आनृण्यकरो हृदैव॥५८॥

श्रीकृष्णसंविष्टधियोः (श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में मन लगाये हुए) संत्यक्त संभुक्तिकयोः (लौकिक भोगों को त्यागे हुए) सुभक्त्या (भगवद्भक्ति के द्वारा) लोकयुगे (दोनों लोकों के सुखों में) उदासी नयोः (लिप्सा रहित) असून्वोः (सन्तति रहित) सत्त्कर्णयोः (पितृ आदि तीनों ऋणों से ऋणी) "अतएव" दम्पतिमात्रयोः (केवल दोनों पति पत्नी ही) काननसंविविक्ष्वोः (वन में जाने की इच्छा वाले) भूदेवयोः (विप्रदेव-माता जयन्ती और अरुणऋषि इन दोनों की) सदुक्त्या (विनम्र प्रार्थना से) संयाचितः (याचना किये हुए) 'आप' तनयः (पुत्र) अभूः (हुए) वा (जैसे) हृदा (करुणामय चित्त से) एव (ही) नन्दादिवृन्दावनवासिनां (श्रीनन्द आदिक वृन्दावन वासियों की) आनृण्यकरः (उऋणता चाहने वाले) श्रीकृष्णः (परात्पर ब्रह्म ने अवतार धारण किया था)॥५७॥५८॥

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दन की जिस लीला का अनुकरण किया है, उसका इन श्लोकों से वर्णन करते हैं। श्रीनन्दबाबा और माता श्रीयशोदाजी ये दोनों यद्यपि सदा-सर्वदा ब्रजजनों के माननीय व्यवस्थापक और ब्रज में ही निरन्तर निवास करने वाले एवं सच्चिानन्द श्रीब्रजचन्द्र की अन्तरङ्ग, नित्य विभूतियाँ हैं। ब्रह्म-संहिता आदिक संहिताओं और ब्रह्मवैवर्तादिक पुराणों में तथा तन्त्र ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवरण के साथ-साथ विवेचन किया गया है, कारण, ब्रज भगवान् का नित्य और अप्राकृतधाम है, और उसमें स्थित यावन्मात्रवस्तु भगवान् की नित्य विभूतियाँ हैं,

अतएव भगवान् से वे दूर नहीं रह सकते और भगवान् भी उनको दूर नहीं करते, तथापि लीलाओं के अनुसार भगवान् अपनी विभूतियों को रूप रूपान्तरों से लोक लोकान्तरों में जाने आने की आज्ञा देकर प्रवृत्त करते हैं और स्वयं भी प्रादुर्भाव तिरोभाव आदिक अनेक लौकिक और अलौकिक दिव्य लीलायें करते हैं। अतएव जब भगवान् की अवतार विषयिणी इच्छा हुई तब प्रथम श्रीनन्दजी ने द्रोण रूप से और श्रीयशोदाजी ने धरा के रूप से पृथ्वी तल पर प्रकट होकर तपश्चर्या की, भगवान् ने उनको अभीष्ट वर प्रदान किया, फिर वे ही दोनों नन्द यशोदा के रूप से धरातल के ब्रज में अवतीर्ण हुए और लौकिक दृष्टि में भगवान् ने उनके पुत्र बनकर उनका पितृऋण दूर किया, इसी प्रकार अट्ठाईसवें द्वापरयुग के अवसान कालिक सुदर्शनवतार श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी माता श्रीजयन्तीदेवी और पिता श्रीअरुण-ऋषि इन दोनों को पितृ-ऋण से मुक्त किया।

श्लोकार्थ–श्रीअरुण ऋषि और श्रीजयन्तीदेवी, ये दोनों सदा सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के भजन में ही रत रहते थे, अतः किसी प्रकार की सम्पदाओं का संचय नहीं करते थे और लोक परलोक की भी चिन्ता नहीं करते थे। यहाँ तक कि भगवद्भक्ति के अतिरिक्त खान पानादिक में भी आसक्ति नहीं रखते थे और समस्त लौकिक व्यवहारों से तटस्थ होकर वानप्रस्थ आश्रम की ओर झुक रहे थे अर्थात् गृहस्थाश्रम को छोड़ वानप्रस्थ आश्रम धारण करना चाहते थे, किन्तु एक यह शास्त्रीय मर्यादा उनको अवरुद्ध कर रही थी, कि–

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

(मनु० अ० ६ श्लोक ३५)

अर्थात् देव, ऋषि और पितृ इन तीनों के ऋण से मुक्त हुए बिना वानप्रस्थ एवं संन्यास नहीं धारण करना चाहिये। इन तीनों ऋणों से तीन साधनों द्वारा मुक्त हो सकता है, जैसे कि यज्ञ करके देव-ऋण से

और वेदाध्ययन करके ऋषि-ऋण से एवं पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से। अतएव परम भागवत अरुण महर्षि को पितृ-ऋण से मुक्त कर निर्वाध भगवद्भक्ति में सहायता करने के लिये श्रीनिम्बार्क भगवान् ने श्रीजयन्ती देवी के उदर से पुत्र रूप में प्रकट होकर अपनी रश्मियों से बाहिरी और भीतरी समस्त जगत् को प्रकाशित कर दिया ॥५७॥५८॥

वानस्थयोराश्रममागतं त्वं पित्रोस्तु भिक्षुं वनमेत्य भिक्षाम्।
अग्राहयस्तं प्रतिशङ्कमानमाम्नायरीत्या निशि भोजनाच्च ॥५९॥
निर्यान्तमाहूत इवार्ककोटिः श्रीकृष्णसेवासु विलम्बकर्त्रोः।
क्षुत्क्लिष्टमावृत्य सुतर्जनीनखंदीर्घबाहुं नभसि प्रसार्य्यः ॥६०॥
निम्बाग्र आदित्यमिव स्वसूचयंस्तापाद्गतो निश्चित मानसं यः।
सद्रौपदान् पाण्डुसुतान्मुकुन्दो दुर्वाससो यद्वदचिन्त्यशक्तिः ॥६१॥

श्रीकृष्णसेवासुबिलम्बकर्त्रोः (श्रीकृष्णचन्द्र की सेवा में लगे हुए होने के कारण बिलम्ब करने वाले) वानस्थयोः (वनवासी) पित्रोः (माता-पिताओं के) आश्रमम् (आश्रम में) आगतम् (आये हुए) निशि (रात्रि में) भोजनात् (भोजन करने से) प्रतिशङ्कमानं (शङ्का करने वाले) भिक्षुं (संन्यासी को) वनम् (वन में) ऐत्य (जाकर) दीर्घबाहुँ (लम्बी भुजा को) नभसि (आकाश में) प्रसार्य्य (फैलाकर) अर्ककोटिः (सूर्य कोटि) आहूतः (बुलाया हो) इव (जैसे) निम्बाग्रे (निम्ब के अग्रभाग पर) आदित्यं (आदित्य को) स्वसूचयन् (सूचित करते हुए) इव (की भाँति) तं (उस) क्षुत्क्लिष्टं (क्षुधातुर) "और", निर्यान्तं (निकलते हुए को) आवृत्य (लौटाकर) त्वं (आपने) भिक्षां (भिक्षा को) अग्राहयः (ग्रहण करवाया) यः (जो) तापात् (प्रकाश से) निश्चितमानसं (निश्चित चित्त) गतः (हुआ) तु (फिर) यद्वत् (जैसे कि) अचिन्त्यशक्तिः (अचिन्त्य शक्तिशाली) मुकुन्दः (मुकुन्द भगवान् ने) दुर्वाससः (दुर्वासा के शाप से) सद्रौपदान् (द्रौपदी के सहित) पाण्डुसुतान् (पाण्डु पुत्रों को) "बचाया था, उसी प्रकार" अघौघात् (अतिथि सत्काराभाव-रूप पाप-समूह से) पितरौ (माता-पिताओं को) निर्मोचयामासिथ (आपने छुड़ाया) ॥५९॥६०॥६१॥

जब महर्षिवर्य्य श्रीअरुणमुनि और माता जयन्ती देवी पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्त हो गये, तब गृहस्थाश्रम को त्यागकर शास्त्रीय विधानपूर्वक बानप्रस्थाश्रम का ग्रहण किया, किन्तु उनके प्राणप्रिय एवं अव्यक्त रूप से उनकी सहायता करने वाले आप (श्रीनियमानन्द) भी उनके पुनीत अंक को ही अलंकृत करते हुए समय-समय पर भगवद्‌भक्ति निरत अपने मातापिता की धार्मिक विपत्तियों को दूर करते रहे। एक समय 'एक-भिक्षु' अपनी मण्डली सहित अरुणाश्रम निम्बग्राम में आया और भिक्षा का संकेत किया। किन्तु उस समय दम्पत्ति भगवान् की आराधना में लगे हुए थे-उनको समय के विलम्ब और शीघ्रत्व का भान नहीं था। इधर भिक्षु (संन्यासी) रात्रि होते देख चिन्तातुर हो रहा था, कारण उसने अपने वृन्दसहित रात्रि में भोजन न करने की प्रतिज्ञा शास्त्रीय मर्यादानुसार कर रखी थी और क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित हो रहा था। अत: आश्रमाधिपतियों की अन्य कार्य में संलग्नता देख वह भिक्षु वहाँ से चले जाने की चेष्टा कर रहा था, किन्तु श्रीनियमानन्दाचार्यजी ने उसको सान्त्वना देकर रोका, परन्तु उस भिक्षु ने अपना व्रत और माता पिता की सेवा प्रणाली दोनों में असामंजस्य एवं अपनी तीव्रतर क्षुधा-वेदना ये सब प्रकट किये। वस्तुत: यह बड़ी ही कठिन समस्या थी, क्योंकि पराभक्ति वाले भक्त आश्रमादि नियमों की ओर विशेष ध्यान, नहीं देते, और क्षुधातुर प्राणी भोजन के अतिरिक्त किसी भी उचित अनुचित बात का विचार नहीं कर सकता, यद्यपि सामान्यतया तो, "अर्थी दोषन्न पश्यति" इस न्याय से सभी स्वार्थ साधक प्राणी पाप पुण्य का विचार नहीं कर पाते, तथापि अन्य स्वार्थों की अपेक्षा उदर पूर्त्ति रूप स्वार्थ तो प्राणियों को एक प्रकार से जड़वत् ही बना देता है। अतएव-क्षुधित पुरुष महापाप करने के लिये भी उतारू हो जाता है। सर्पिणी जब क्षुधा से व्याकुल होती है। तब अपने बच्चों को भी खा जाती है। अतएव संसार में जितने अनर्थ होते हैं वे सब क्षुधा की ही प्रेरणा से समझने चाहिए।

किन्तु इस द्विविधा को शिशु रूप में ही आपने एक अलौकिक शैली से निवारण किया, जिससे कि न माता-पिता के भगवदारधन में ही क्षति पहुँची और न आश्रम धर्म का ही भंग हुआ ॥५९ ॥

(अब, यहाँ जिस रीति से आपने उस भिक्षुक (यति) को भोजन करवाया उस रीति को बतलाते हैं।)

आशय यह है कि भगवान् के नैवेद्य भोग धरने में बिलम्ब था और सूर्यदेव अस्ताचल पर पहुँच चुके थे, इधर यति का चित्त उद्विग्न हो रहा था कि, अब मैं भोजन कैसे कर सकूँगा, सूर्य अस्त हो रहे हैं और रात्रि वेला सन्निकट आ पहुँची है, श्रीनियमानन्दाचार्यजी ने उसकी उद्विग्नता को दूर करने के लिये अपनी विशाल और मनोहर भुजा ऊपर और तर्जनी अंगुली सूर्य की ओर की, मुखकमल से "आइए" यह पीयूष गिरा निकली, आश्चर्य यह हुआ कि, एक वाणी और दो व्यक्तियों का आवाहन, इधर तो जाते हुए यतिजी आकर्षित हो आये और उधर जाते हुए भास्करजी आकर्षित हो आये, परिणाम यह हुआ कि, जो सूर्य अस्ताचल पर प्रतीत होते थे, वही सूर्य अंगुली उठाते ही समीपवर्ती निम्ब वृक्ष पर आ बैठा-उस घटना को अनुभव करने वालों की उसी प्रकार की धारणायें होने लगीं, जैसी कि, कंस की मखशाला में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के रंगमंच पर पहुँचने पर सभासदों की अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार धारणायें हुई थी। ★

★ **मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्।**
गोपीनां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराड्विदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(भा० द० पू० अ० ४३ श्लोक १७)

"अर्थात् जब भगवान् रंगमंच पर पहुँचे तो मल्लों को वज्र, मनुष्यों को सुन्दर नर, स्त्रियों को कामदेव, गोपों को कुटुम्बी, दुष्ट नृपों को शासक, पिता आदिक को पुत्र, कंस को काल, विद्वानों को विराट्, योगियों को परम तत्त्व, यादवों को परदेवता के रूप से प्रतीत होने लगे।"

किसी की धारणा थी कि, 'सूर्य' निकट आ गया और किसी की धारणा थी कि, विचित्र चन्द्रमा का ही उदय हुआ है और किसी ने निम्ब-वृक्ष पर अग्निदेव का अवतार ही माना एवं किसी ने नियमानन्दजी की अंगुली में ही जादू माना। परन्तु अधिकतर प्राणियों को और अपनी मण्डली सहित यतिराज को भी यही भान हो रहा था कि, सूर्य का ही प्रकाश है, और सूर्य की ऊष्णता है। बस उसी समय यति का चित्त शान्त हो गया, धैर्यपूर्वक बैठ गया और समयान्तर से भगवान् के भोग लगा, सभी उपस्थित व्यक्तियों ने प्रसाद लिया, और आनन्दपूर्वक आचमन जल-पान आदिक किए, सन्तुष्ट होकर शान्ति पूर्वक बैठे वह घटना उस घटना की समता कर रही थी कि दुर्योधन द्वारा असमय भेजे हुए दस हजार शिष्यों सहित "महा क्रोध की साक्षात् मूर्त्ति दुर्वासा ऋषि ने पाण्डवों के यहाँ पहुँचकर भोजन का सवाल कर दिया था और उस समय सूर्यप्रदत्त स्थाली (टोकनी) को द्रोपदी साफ कर चुकी थी, अतः भोजन न करवाने के कारण दुर्वासा के द्वारा शाप प्राप्त होने का भय था, वस उस समय "भगवान् विश्वम्भर श्रीकृष्णचन्द्र ने उस टोकनी में से इधर-उधर खोजकर एक कोने में लगी हुई शाक की पत्ती निकालकर अपने मुँह में डाली और उदर में पहुँचते ही समस्त विश्व के प्राणियों के पेट ठसाटस भर गए", ऋषि दुर्वासा भी तृप्त हो गया और पेट फूल जाने के कारण यह विचारा कि मैं कैसे और क्या पाऊँ? बस शान्त होकर दुर्वासा चले गये, भगवान् ने उनके क्रोधानल से पाण्डवों को बचाया, बस उसी प्रकार श्रीनियमानन्दजी ने अपने माता-पिता को शापानल से बचा लिया।

निर्मोचयित्वा पितरावघौघात् संयुक्तवंशस्त्विवनिर्गतस्तौ।
निम्बार्कनाम्नेऽस्तु नमो नमस्ते सद्धर्मनिर्वन्धविमोचकाय॥६२॥

तौ (उन दोनों), पितरौ (माता पिताओं को), अघौघात् (शापादि दुखों से) संयुक्तवंशः (मिले हुए अवयवों वाले बाँस) इव (की

भाँति) निर्मोचयित्वा (छुड़ा करके), भवान् (आप) निर्गतः (प्रकट हुये), तु (अतः) सद्धर्मनिर्बन्धविमोचकाय (धार्मिक कष्ट से विमुक्त करने वाले) निम्बार्कनाम्ने (निम्बार्क नाम को धारण करनेवाले) ते (आपको), नमोनमः (बारम्बार नमस्कार), अस्तु (हो) ॥६२॥

हे श्रीनियमानन्द भगवान्! आप अपने माता-पिताओं को आश्रम धर्म की मर्यादानुसार धार्मिक बन्धन तथा क्षुधित यति की शापादिक भावनाओं से मुक्त कर जैसे पाषाणादि संयुक्त दृढ़ भूमि को छेदन कर बाँस तीक्ष्ण रूप से प्रकट होता है, वैसे ही आप श्रीनिम्बार्क-नाम से प्रख्यात हुए। 'संयुक्तवंशः' इस पद का अर्थ कुछ विद्वान् यह भी करते हैं कि जैसे बाँस को एक सिरे से फाड़ने पर सहज ही वह बाँस फट जाता है, वैसे ही अपने माता-पिताओं को उस महान् ऋणरूपी पाप से सहज ही निर्मुक्त बना दिया।

आशय यह है कि जब यतिवृन्द भोजनादि से निवृत्त होकर कुछ वार्तालाप आदि के निमित्त माता पिता सहित आपकी सन्निधि में उपस्थित हुआ, तब आपने अपने तेज को समेट लिया, जिससे कि चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार फैल गया और केवल आपके सन्निकट ही एक भव्य प्रकाश प्रतीत होने लगा ★ इस आश्चर्य को

★ श्रीसुदर्शनावतार होने के कारण श्रीनिम्बार्क भगवान् समस्त तेज के आधार हैं, अर्थात् जितने भी प्रकाश करने वाले देखे सुने जाते हैं, वे सब सुदर्शन के अन्दर ही हैं, इस विषय को वामनपुराण में देखना चाहिये। जब कि बलिराजा पाताल में चला गया। वहाँ पर विहारपूर्वक राज्य करने लगा तब वहाँ पातालस्थ श्रीसुदर्शन प्रकटित हुये, इनके तेज से दैत्य थर्राने लगे, तब रानी विन्ध्यावली के द्वारा ज्ञात होने पर बलि ने श्रीचक्रराज की प्रार्थना की-

नमस्यामि हरेश्चक्रं यस्य नाभ्यां पितामहः।
तुङ्गे त्रिशूलधृक्शर्व अराभूले महाद्रयः॥१३॥
अरासु संस्थिता देवाः सेन्द्रार्काश्च सपावकाः।
यवे यस्य स्थितो वायुरापोग्निः पृथिवी नभः॥१४॥

देखकर वह कपट यति + अत्यन्त विस्मित हुआ और मन ही मन आपका स्तवन करने लगा जिससे कि, उस भयभीत यति के चित्त में आपका असीम प्रकाश पहुँचा और उसको आपके स्वरूप का ज्ञान हुआ, अतः उसके मुखसे यही शब्द निकले कि हे निम्ब पर सूर्य दिखलाने वाले निम्बार्क! आपको मेरा पुनः–पुनः नमस्कार है।

यद्यपि 'निम्बार्क शब्द का अर्थ' कुछ सज्जन इतना ही समझते हैं कि, निम्बवृक्ष पर सूर्य को रोक लेने से ही उक्त आचार्यचरणों का निम्बार्क नाम हुआ, परन्तु इतने से ही निम्बार्क शब्द पूर्ण व्याख्यात नहीं हो जाता, क्योंकि और भी बहुत से मुख्य अर्थ इस शब्द में भरे हुये हैं। जिनमें से एक दो प्रकार की व्याख्या हम यहाँ पर कर देना उचित समझते हैं। ?

निम्ब और अर्क इन दो शब्दों से समास होकर एक निम्बार्क पद सिद्ध होता है। जैसे लोक में निम्ब शब्द का अर्थ 'निम्बवृक्ष' माना गया है, वैसे ही शास्त्र में निम्ब शब्द का अर्थ लक्षण द्वारा 'संसार' भी किया जाता है, क्योंकि दोनों के स्वभाव समान हैं। अर्थात् निम्ब वृक्ष भी कटुता से ओत–प्रोत और प्रतिक्षण वृद्धि ह्रास होने वाला है

अरासंधिषु जीमूताः सौदाम्नृक्षाणि तारकाः।
बाह्यतो मुनयो यस्य बालखिल्यादयस्तथा॥१५॥

[वामनपुराण अ० ९४]

हे चक्रराज! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आपकी नाभि में ब्रह्मा, शिखर में शंकर, अराओं के मूल में महापर्वत और इन्द्र सूर्य अग्नि सहित समस्त देवयव भाग में। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अराओं की सन्धियों में मेघमाल, बिजली तारा आदि स्थित हैं और बाहर बालखिल्यादि मुनि स्थित हैं। अतः आप व्यापक और सर्वाधार हैं।

+ अवतार रूप से चक्रराज श्रीसुदर्शन के दर्शन के लिये ब्रह्माजी ही यति के वेष में वहाँ आये थे। इसी प्रकार किसी कल्प में श्रीनारदजी के यति वेष में आने के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं।

और संसार भी दु:खरूपी कटुता से ओत-प्रोत और वृद्धि ह्रास-युक्त ही है, एवं उपयोग करने पर निम्बवृक्ष जैसे शारीरिक विकारों का अपहरण करता है, वैसे ही संसार भी उपभोगादि द्वारा अपने स्वरूप को दिखाकर परमात्मा विषयक ज्ञानोत्पत्ति में सहायक बनता है। अत: दोनों पदों के समास भेद से अर्थ के भी भेद होते हैं, जैसे कि 'निम्बाय, अर्क: निम्बार्क:' ऐसे समास करने से यह अर्थ होता है कि, निम्ब अर्थात् इस अन्धकारमय संसार का ज्ञान कराने के लिये जो अर्क अर्थात् तेज: स्वरूप परमात्मा है वही निम्बार्क है। निम्बे-अर्क:, 'निम्बार्क' ऐसा समास करने पर यह अर्थ होता है कि, निम्ब (संसार) के ऊपर जो अर्क अर्थात् परमात्मा है वही निम्बार्क है।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत् कर्हिचित्।
नमर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयोगुरु:॥

[भागवत ११ स्क० १७ अ० २७ श्लोक]

अर्थात् आचार्य परमात्मा के ही स्वरूप हैं, उनको साधारण मनुष्य नहीं जानना चाहिये। 'प्राणो वा अर्क:' शतपथ १०/४/१/२५ के प्रमाण से अर्क शब्द 'प्राण वाचक' भी है। अत:, निम्बस्य, अर्क:, (निम्बार्क:) ऐसा समास करने पर निम्बार्क शब्द का अर्थ: 'संसार का प्राण' होगा।

आशय यह है कि प्राण शरीर का अवलम्ब एवं जीवन है, अतएव प्राण के बिना शरीर स्थित नहीं रह सकता। बस इसी प्रकार समस्त संसार के प्राण श्रीनिम्बार्क हैं, क्योंकि, प्रभावशाली आचार्य के बिना जगत् अपनी मर्यादानुकूल न स्थित ही रह सकता, और न धार्मिक तत्त्व को ही जान सकता है और सद्धर्म का आचरण भी नहीं कर सकता। इन उपरोक्त 'निम्बार्क' शब्द की व्युत्पत्तियों से श्रीनिम्बार्काचार्य परब्रह्म के अवतार भी सिद्ध होते हैं और श्रीसुदर्शन चक्रराज के भी अवतार सिद्ध होते हैं, अत: ऐसी परिस्थिति में यह सन्देह होना अनिवार्य है कि श्रीनिम्बार्काचार्य साक्षात् परमात्मा

श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार हैं अथवा श्रीसुदर्शन के? इस सन्देह की निवृत्ति ग्रन्थकार के वचनों से ही की जायगी। एतदर्थ, 'श्रीनिम्बार्क विक्रान्ति' के आगामी 'कृष्णस्यह्याचार्यवपुर्भवान् श्री' इस १०२ श्लोक की व्याख्या में हम विशेष प्रकाश डालेंगे, क्योंकि कल्पभेद से श्रीनिम्बार्कावतार में भी प्रभेद हैं, अत: पाठकगण आगामी उस स्थल को विशेष ध्यान से पढ़ें।

कृष्णेष्टसत्सङ्कटमोक्षकार्यगस्त्यन्तु दृष्ट्वा मलयाद्रिपादे।
सत्याविहीनं त्रिजटं सुरा वा चिन्तातुरं सर्वविपर्ययागम्॥६३॥
पप्रष्ठ सर्वाधिनिदानमीश! कृष्णच्युतं धर्मसुतोऽर्जुनंवा।
भूयो विकल्पेन विकल्पितस्ते, संतर्कयन्नेव सचाप्युवाच॥६४॥
सामर्थ्यमात्माधिनिरस्तिहेतुं निर्देशयन्नक्तवहां स्वभक्तां।
विज्ञानवैराग्यमिवोढजाड्यं वीणाकरं भक्तिरनन्तधाम्नि॥६५॥

अन्वयार्थ:–हे ईश! (हे प्रभो) मलयाद्रिपादे (मलयाचल पर्वत की उपत्यका भूमि में), सर्वविपर्ययागम् (अग्नि–होत्र सन्ध्यावन्दनादि द्विज कर्म रहित) चिन्तातुरम् (शोकाकुल), अगस्त्यम् (महर्षि अगस्त्य को) दृष्ट्वा (देखकर), कृष्णेष्टसत्सङ्कटमोक्षकारी (भगवान् श्रीकृष्ण के सद्भक्तों की व्याधियों को दूर करने वाले), त्वं (आपने), सर्वाधिनिदानं (उसके समस्त दु:खों का कारण) तं (उसको) पप्रष्ठ (पूछा) वा (जैसे कि) सुरा: (देवताओं ने) सत्या: (सती से) विहीनं (वियोगी) त्रिजटं (शंकर को) वा (अथवा), विकल्पित: (विकल्पों से युक्त) धर्मसुत: (युधिष्ठिर ने), कृष्णच्युतं (कृष्ण के विरही) अर्जुनं (अर्जुन को) (पूछा था), च (फिर) आत्माधिनिरस्तिहेतुं (अपने दु:ख को निवृत्त करने वाली) सामर्थ्यम् (शक्ति का) निर्देशयन् (समर्थन करता हुआ), भूयोविकल्पेन (अनेक प्रकार की तर्कों से), स (वह अगस्त्य), अपि (भी), संतर्कयन् (सन्देह करता हुआ), एव (ही) अनन्तधाम्नि (श्रीवृन्दावन धाम में) वीणाकरम् (नारदजी के प्रति), ऊढजाड्यम् (जरा जीर्ण), विज्ञानवैराग्यम् (ज्ञान और वैराग्य

को बतला कर), भक्तिः (तरुणरूप हरिभक्ति), इव (भाँति), स्वभक्तां (अपने कार्यों में अधिकतर सहयोग देने वाली) रक्त वहां (रुधिर रूप से बहने वाली नदी को) निर्देशयन् (दिखलाकर उवाच (बोला) ॥६३॥६४॥६५॥

भावार्थः-जब भगवान् श्रीनियमानन्दाचार्यजी ने ब्रह्मा द्वारा प्रख्यात किये हुए श्रीनिम्बार्क नाम को अंगीकार किया, और अपनी प्रभा से स्वर्गादि लोकों में प्रकाश पहुँचा कर देवताओं को सान्त्वना प्रदान की, तदनन्तर धरातल निवासी ऋषियों की आपत्तियाँ दूर करने के लिये और ऋषियों को सताने वाले दुष्ट असुरों को अपने प्रचण्ड तेज से जलाकर सद्धर्म की अभिवृद्धि करने के लिये माता-पिताओं की पूर्ण अनुमति से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत की मर्यादानुसार देवर्षि श्रीनारदजी से दीक्षा ग्रहण कर सम्पूर्ण जगत् की यात्रा के निमित्त प्रस्थान किया।*

आपका मांगलिक प्रस्थान अद्भुत अलौकिक चरित्र और अनुपम माधुर्य, सुकुमार कलेवर एवं किशोर अवस्था आदिक विस्मयावह सामग्रियों से दर्शक जनता को चकित कर रहा था। विद्वानों को ध्रुव की स्मृति करा रहा था, भक्तों को भक्तवत्सल भगवत्ता की झलक दिखला रहा था और दुष्ट असुरों को साक्षात् कालस्वरूप के दर्शन

---

* यद्यपि चमत्कारी अर्थात् दैवी शक्ति सम्पन्न पुरुषों की गति प्रायः विलक्षण ही हुआ करती है तथापि वे महापुरुष तत्तद्देहों की मर्यादाओं का सर्वथा अपमान नहीं करते, अपितु अधिकतर पालन ही करते हैं, जैसे कि, भगवान् ने हयग्रीव-वाराह-नृसिंह राम आदि अवतारों में उन-उन देहों की मर्यादाओं का पालन किया है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् प्रकाश-स्वरूप, अतएव जैसे एक देश स्थित सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा क्षण-मात्र में बहुत से अव्यवहित देश तक जा पहुँचता है। वैसे ही श्रीनिम्बार्क एक देश में स्थित रहकर भी अपनी अमित प्रभा से प्रतिक्षण सर्वत्र सम्प्राप्त ही हैं, तथापि मानव-देह ग्रहण करने के कारण मानव-देहानुसार ही सभी कार्य करते हुए दिग्विजय कर धर्म की सुदृढ़-मर्यादा बाँधी।

करा रहा था, उपासकों को अपने-अपने उपास्य देवों की झाँकी ही करा रहा था। आश्रम से बाहर पदार्पण करते ही जगत् में सर्वत्र पुनीत प्रभा फैल गई थी, पशु-पक्षी, नर-नाग, किन्नर, लता-पतायें सभी श्रीनिम्बार्क भगवान् के असीम तेज से प्रकाशित बन गये थे। चारों दिशाओं में शीतल-मन्द-सुगन्ध यह त्रिविध समीर मन्द-मन्द चल रहा था, उस समय आधि व्याधियाँ लुप्त प्राय: हो चलीं थीं, न किसी को आध्यात्मिक क्लेश ही था और न अधिभूत क्लेश ही, एवं न, अधि-दैव व्याधि ही किसी को सता सकती थी। जिधर श्रीसुदर्शनावतार के चरणों का स्पर्श होता जाता था, उधर एक आनन्द सिन्धु का स्रोत ही उमड़ जाता था। एक नव वयस्क चमत्कारी आचार्य के संग-संग हजारों शिष्यों का दल सेनाओं को तिरस्कृत करता था, मानों साक्षात् सूर्य ही अपने परिकर-मण्डल को लेकर दिग्विजय करने जा रहे हैं, किन्तु आपकी गति सबको विस्मित कर रही थी। अत: संग लगी हुई जनता थकित हो-होकर पीछे लौटती थी।

और अपने आगे की जनता अभिमुख होती जा रही थी। अतएव आपकी सेना उतनी की उतनी ही प्रतीत होती थी, जिससे कि भक्तों को आपके नित्य वैभव का अनुभव हो रहा था। अनेक देश देशान्तरों के निवासियों के हृदय-पटल पर अपना विचित्र-चित्र जमाते हुए श्रीनिम्बार्काचार्य उस 'मलयाचल पर्वत' पर पहुँचे, जिसके कि नीचे की भूमि में उन्मनस्क शोकाकुल परम दुखी 'महर्षि अगस्त्य' चिन्ता कर रहे थे। न उनको स्नान का ही भान था और न सन्ध्यावन्दन का ही स्मरण था, न अग्निहोत्र की ही खबर थी। दुरवस्था में देखकर अगस्त्य ऋषि से भगवद्भक्तों को दु:ख-सागर से छुड़ाने वाले परम दयालु श्रीनिम्बार्क-भगवान् ने बड़े ही सुहृद्भाव से उनके दु:ख का कारण पूछा। जैसे कि सती के विरहानल से जलते हुए उन्मत्त प्रलापी श्रीशंकर से देवताओं ने पूछा था, एवं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के वियोग से परम पीड़ित, शिथिलेन्द्रिय अर्जुन से अनेक प्रकार की कल्पनाओं के

साथ-साथ महाराजा युधिष्ठिर ने पूछा था। महर्षि अगस्त्य उस समय दु:ख दावानल से इतने संतप्त हो रहे थे कि, बारम्बार पूछने पर भी उनके मुख से वाणी नहीं निकल सकती थी, जब बारम्बार पूछने से श्रीनिम्बार्क भगवान् के वचनामृत का अगस्त्यजी के हृदय से सम्पर्क हुआ और मुर्झित-कमल कलेवर पल्लवित हुआ, तब श्रीनिम्बार्क भगवान् को नमन कर संकल्प विकल्प करते हुये ही श्रीनिम्बार्क भगवान् के प्रश्नानुसार जैसे रुदन करती हुई भक्ति ने शिथिल पड़े हुए अपने ज्ञान वैराग्य दोनों पुत्रों को दिखाकर दु:ख प्रकट किया था, वैसे ही अपने नित्य कृत्यादिक कार्यों में अहर्निश सहयोग पहुँचाने वाली और सुमधुर जल वाली उस नदी को (जिसका कि जल ऋषियों के शाप से रुधिर हो गया था) दिखलाकर आर्त स्वर से अपनी चिन्ता का कारण अगस्त्य ऋषि कहने लगे ॥६३ ॥६४ ॥६५ ॥

श्रुश्रूषती विस्मृतकालमात्रा संचिन्तिता मे स्मृतिमात्रव्यग्रा।
विस्मृत्य रूपं निजदैवमेषा गङ्गौघवेगेन फणायमाना ॥६६ ॥
सन्तप्तदुग्धं प्रतिधावतीमां हुङ्कारहूता इव वत्सला गौः।
सम्प्लावयामास तटस्थविप्रान् श्रीद्वारकां वान्तरिव समुद्रः ॥६७ ॥

विस्मृतकालमात्रा (समय को भूली हुई) "अत:" स्मृतिमात्रविग्रा (स्मरण होने से बिलखती हुई), मे (मेरे लिये) संचिन्तिता (चिन्ता करती हुई) एषा (यह) गङ्गा (नदी) निजदैवं (अपने सात्विक) रूपं (रूप को) विस्मृत्य (भूलकर) संतप्तदुग्धं (दूध के लिये रम्भाते हुए बछड़ा के प्रति) फणायमाना (ऊपर को गर्दन उठाये) हुङ्कारहूता (हुङ्कार करती हुई) वत्सला (पालन करने वाली जननी) गौ (गैया) इव (समान) मां (मेरे) प्रति (ओर) धावती (दौड़ती हुई), तटस्थ विप्रान् (तट पर रहने वाले ऋषियों को) अन्तः (अपने अन्दर) श्रीद्वारकाम् (द्वारिकापुरी को) समुद्रः (महासागर) इव (की भाँति) सम्प्लावयामास (डुबाकर वहा दिया) ॥६६ ॥६७ ॥

जैसे प्रात: काल जंगल में चरने को गई हुई गौ बहुत समय तक जंगल में चरती–चरती सायंकाल अपने वत्स का स्मरण कर उद्विग्न हो जाती है और कान एवं पूँछ को ऊपर उठाकर रंभाती हुई वेगपूर्वक दौड़ती है, उस समय उसको अपने क्षुधित शिशु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीखता, मार्ग में जो कुछ पाषाण आदि की रुकावटें आती हैं उनको भी वह निर्भीकता पूर्वक उल्लंघन कर अपने वत्स के पास जाती है, वैसे ही यह नदी अत्यन्त वेग से मेरे सन्निकट आ पहुँची ? जिससे कि मुझे नित्य कर्म की वेला का बोध हुआ, परन्तु उस असह्य वेग से इसके तट पर जितने भी ऋषि थे उनमें से बहुत से बह गये और बहुत से उसी प्रकार लीन हो गये एवं उनके आश्रम भी प्राय: छिन्न–भिन्न हो गये थे, जैसे कि समुद्र में श्रीद्वारिकापुरी लीन हो गई थी ॥६६ ॥६७ ॥

मग्नाश्रमास्ते नगमाललम्बुर्दैनं दिनान्ते मुनयो जनो वा।
शेपुस्तदा तां रुधिरं भवेति व्राणावतीयं विचिकित्सिता मे ॥६८ ॥
श्रीदण्डकारण्यनिवासिभिर्वा विग्लानिरक्ता शवरीष्टगङ्गा।
तेनैवमावेदितवृत्तनद्यां पत्स्पर्शतस्त्वामुपहूतदेव्या: ॥६९ ॥
श्रीकृष्णसेवाभिरतेरगस्त्यसंशिक्षितायाः परिचारिकायाः।
निर्णेजयामासिथ कृष्णभक्त्या संपश्यतां विप्रजनानुगानाम् ॥७० ॥
रामः शवर्य्या इव रक्तवाहां तस्मै नमो भक्ति महत्व नेत्रे।

मग्नाश्रमा: (डूबे हुए आश्रमों वाले) मुनय: (मननशील बनवासी ऋषि) वा (और) जन: (जन समूह) दैनं दिनान्ते (सायंकाल) नगम् (पर्वत पर) आललम्बु: (जा चढ़े) तदा (उस समय) ते (उन सभी ने) तां (उनके आश्रमों को बहाने वाली उस नदी को) रुधिरम् (रक्तमय) भव (हो जाओ) इति (ऐसा) शेपु: (शाप दे दिया) 'अत:' विग्लानिरक्ता (उनकी खिन्नता से रक्तमय बनी हुई) इयं (यह) शवरीष्टगङ्गा (रामगंगा) व्राणावती (विकृत बन गई है) "इसलिये" मे (मेरे लिये) वा (एवं) दण्डकारण्यनिवासिभि: (दण्डक

वन में निवास करने वाले ऋषियों के हेतु) विचिकित्सिता (यह चिकित्सा कराने योग्य है)।

तेन (उस अगस्त्य के द्वारा) एवं (इस प्रकार) आवेदितवृत्तनद्यां (नदी का वृत्तान्त कहने पर) अगस्त्य संशिक्षितायाः (अगस्त्य से शिक्षा पाई हुई) विप्रजनानुगानाम् (ब्राह्मणों के अनुयायियों की) परिचारिकायाः (परिचर्या करने वाली) उपहूतदेव्या (देवत्व शक्ति से युक्त) "उसकी गति को" श्रीकृष्ण सेवाभिरतेः (श्रीकृष्णचन्द्र की रति के प्रभाव से) संपश्य (देखकर) शवर्य्याः (शवरी को) रामः (श्रीराम चन्द्र) "की" इव (भाँति) त्वं (आपनें) कृष्णभक्त्या (श्रीकृष्णप्रभु की पराभक्ति के प्रभाव से) पत्स्पर्शतः (केवल चरणकमल के स्पर्श मात्र से) तां (उस) रक्तवाहां (रक्तवाहिनी नदी को) निर्णेजयामसिथ (शुद्ध की) तस्मै (उस भक्तिमहत्वनेत्रे (भगवद्भक्ति के महत्व को प्रकटित करने वाले आप के लिये) नमः (नमस्कार है) ॥६८॥६९॥७०॥७१॥

जब आश्रम पानी में डूब गये और नदी का प्रवाह वैसा ही बना रहा, तब सायंकाल के समय जीवित ऋषिजन पर्वत के ऊपर जा चढ़े और नदी को यह शाप दे दिया कि, "तू रुधिर वाहिनी हो" हे आचार्यवर! अब यह नदी ऋषियों के शाप से वस्तुतः व्राणावती ही बन चुकी। अर्थात् इसका कलेवर व्रणों (घावों) से परिपूर्ण हो पीव और रुधिरमय ही बन गया, 'श्रीदण्डक वन' में रहने वाले ऋषियों की ग्लानि से यह दूषित (रुग्णा अर्थात् रक्तरूपा) रामगंगा चिकित्सा करने कराने योग्य है, किन्तु मैं इस सन्देह में निमग्न हो रहा हूँ कि, इसकी चिकित्सा कौन से प्रतापी वैद्य से करवाऊँ?

"श्रीऔदुम्बराचार्य" उक्त प्रकार ऋषि अगस्त्य और भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी के सम्वाद का ग्रन्थन कर श्रीआचार्यकृत "विस्मयावह कृत्य" का वर्णन करते हैं, कि:-

हे अपरिमित प्रभाव ! ऐसे आपने दु:ख का कारण (रामगंगा का रुधिरमय हो जाना) सुनाने पर आपने उस नदी में अपना चरणकमल दिया, जिसके कि स्पर्शमात्र से ही समस्त ऋषियों के देखते-देखते भगवत्सेवा-परायण और दैवीशक्ति से सम्पन्न ऋषिमुनि और उनके अनुयायी ऋषिजनों की परिचारिका एवं अगस्त्य की ही शिक्षा से शिक्षित उस नदी (रामगंगा) के कलेवर को आपने सहज ही में संशोधन कर दिया, और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अनन्य भक्ति के प्रभाव का समस्त संसार को परिचय देकर ऋषि अगस्त्य एवं दण्डकवन वासी ऋषियों की दुर्व्याधि का छेदन किया। जिस प्रकार कि भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने पतित जाति वाली शवरी को उसकी प्रेमाभक्ति पर प्रसन्न हो पावन अर्थात् निष्कल्मष बना दी थी ॥६८ ॥६९ ॥७० ॥७१ ॥

एवं ह्यगस्त्येन सुसूचितां तां दिग्धापराधां समवाप सक्त्या ॥७१ ॥
विप्रानुशप्तां सरितं विशोध्य रक्तप्रवाहां विविधोपयोगैः ।
भूयो भवान्वा हिमकूटपूत्रीं सर्वेश्वरो विष्णुरिवेश्वराय ॥७२ ॥
पीयूषरूपां विनिदिश्य तस्मै निश्चिन्तमर्चार्हमधा यथादौ ।
श्रीदण्डकारण्यनिवासिनो वा श्रीरामदेवो जनपाविदासान् ॥७३ ॥

एवं (इस प्रकार) अगस्त्येन (अगस्त्य ऋषि के द्वारा) विविधोपयोगैः (अनेक प्रकार के उपयोगों युक्त) सुसूचिताम् (सूचित की हुई) दिग्धापराधाम् (अपने बढ़ाव से अपराध की हुई) विप्रानुशप्ताम् (ब्राह्मणों द्वारा शापित) रक्त प्रवाहां (रक्तमय प्रवाह वाली) तां (उस) सरितम् (नदी को) विशोध्य (संशुद्ध बना) यथा (जैसे) आदौ (पहिले) हिमकूटपुत्रीम् (गंगा को) ईश्वराय (शंकर के लिये) सर्वेश्वरः (समस्त चराचर और ब्रह्मादि देवों के शासक) विष्णुः (सर्वत्र व्यापक सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण) इव (भाँति)।

भूयः (फिर से) पीयूष रूपां (अमृतमय) विनिदिश्य (बनाकर) निश्चिन्तम् (निश्चित रूप से) तस्मै (अगस्त्य के लिये) अर्चार्हम्

(भगवत् पूजा के योग्य) "जल" अधा: (आपने उसमें पूरित किया) वा (और) जनपाविदासान् (भक्तजनों की पालना करने वाले अपने विशिष्ट दास श्रीभरत आदि के प्रति) श्रीरामदेव: (भगवान् श्रीरामचन्द्र) वा (की भाँति) भवान् (आप) शक्त्या (अपनी अलौकिक शक्ति से) श्रीदण्डकारण्यनिवासिन: (दण्डक वन में रहने वाले श्रीगौरमुख आदिक ऋषियों के समीप) समवाप (जा पहुँचे) ॥७१ ॥७२ ॥७३ ॥

इस प्रकार महर्षि अगस्त्य के द्वारा अनेक प्रकार की उपयोगिताओं सहित सूचित की हुई और अपने प्रवल प्रवाह के कारण ब्रह्महत्यारूपी प्रचण्ड अपराध से संलिप्त अतएव ब्रह्मर्षियों द्वारा शापित रक्तमय प्रवाह वाली उस रामगंगा नाम की नदी को शुद्ध बनाकर जैसे, प्राचीन काल में ब्रह्मकमण्डली गंगा को श्रीमहादेवजी के लिये अखिल ब्रह्माण्ड नायक समस्त ब्रह्मादि देवों के शासन करने वाले सर्वान्तर्यामी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र नें छोड़ी थी, उसी प्रकार बिगड़ी हुई उस रामगंगा को अमृतमय बनाकर निश्चित रूप से ऋषि अगस्त्य के लिये भगवत् भागवत् के योग्य जल से उसको सम्पन्न की।

इस प्रकार अगस्त्य की प्रवल चिन्ता को मिटाकर जैसे भक्तजन संरक्षक भरतजी आदिक निज परिकर जनों के सन्निकट–रावणादि असुरों को विनष्ट कर स्वशक्ति श्रीजनकनन्दिनी के सहित भगवान् श्रीरामचन्द्र पहुँचे थे, वैसे ही आप अपनी अलौकिक और अद्भुत शक्ति के द्वारा 'श्रीदण्डकारण्य में निवास करने वाले श्रीगौरमुख' आदि ऋषियों के सन्निकट जा पहुँचे ॥७१ ॥७२ ॥७३ ॥

शुष्यन्मुखं मानसदाहकीलैरालक्ष्य भूयोऽपि वरेण्यवर्यम्।
देवर्षिवर्य: कृतवेदभागं श्रीव्यासदेवं जनशुद्धिहार्द्दम् ॥७४ ॥
सर्वस्वदानेन हि दानवीरो निस्तापयामासिथ हार्द्दपृष्ट्या।
पूर्वाकृतिं तां परिचारिकां स्वां नारायणांघ्रीष्टसदानुरक्ताम् ॥७५ ॥
निर्णिक्तशापां सरितं विकल्प्य संसिद्धहार्द्दोवरवर्य्यमिप्सुम्।
संपादयिष्यन्तमगस्त्यमद्धाऽसंतोषयस्तद्वचनाभिपूर्त्या ॥७६ ॥

दानवीर: (सदुपदेश देने वालों में प्रमुख) देवर्षिवर्य्य: (श्रीनारदजी ने) कृतवेदभागं (वेद का विभाग करने वाले) जनशुद्धिहार्दं (मनुष्यों को शुद्ध बनाने की इच्छा रखने वाले) श्रीव्यासदेवं (भगवान् वेदव्यास को) मानसदाहकीलै: (मानसिक सन्ताप रूपी कण्टकों से) शुष्यन्मुखं (उदास मुख) "और" भूय: (फिर) अपि (भी) वरेण्यवर्य्यम् (लोक कल्याणार्थ सन्मार्ग खोजने वाला) आलक्ष्य (समझकर) हार्दपृष्ट्या (अन्त:करण से किये हुए प्रश्न के द्वारा) सर्वस्वदानेन (भगवद्भक्ति रूप सर्वस्व प्रदान कर) हि (निश्चित रूप से) निस्तापयामासिथ (सन्तुष्ट बनाया था) "वैसे ही" निर्णिक्तशापां (शापोद्धार की हुई) तां (उस) नारायणांघ्रीष्टसदानुरक्ताम् (भगवान् के चरणों को ही अपना अभीष्ट मानने वालों में सदा अनुरक्त रहने वाली) परिचारिकां (ऋषियों की परिचर्या करने वाली) सरितं (नदी को) स्वां (अपनी) पूर्वाकृतिं (पूर्व जैसी शुद्ध आकृति में) विकल्प (परिवर्त्तन कर) संसिद्धहार्द: (शुद्ध भाव पूर्ण) त्वं (आपने) इप्सुं (अभीष्ट) वरवर्य्यं (सुन्दर कामना) सम्पादयिष्यन्तं (सम्पादन करने वाले) अगस्त्यं (ऋषि अगस्त्य को) अद्धा (एवमस्तु, इस प्रकार) तद्वचनाभिपूर्त्या (अगस्त्य के वचनों की पूर्त्ति कर) असन्तोषय: (सन्तुष्ट बनाया) ॥७४॥७५॥७६॥

भावार्थ:–भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने महर्षि अगस्त्य के आगन्तुक दु:ख को दूर कर उनकी अन्तर्वर्तिनी वास्तविक–अभिलाषा की जैसी पूर्त्ति की थी, उस कथा का इन श्लोकों से वर्णन करते हैं। एवं "श्रीकृष्ण सर्व प्रतिमानुकर्त्रें" अर्थात् श्रीनिम्बार्क भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की समस्त प्रतिमाओं (अवतारों) के अनुकरण करने वाले हैं। इस अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हुए ग्रन्थकार ने पूर्व श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तथा श्रीरामचन्द्रजी की लीला का अनुकरण (शवरी की शुद्धि की भाँति नदी का शुद्ध करना) बतलाया। अब अन्य श्रीनारद–वामन आदि अवतारों के अनुकरणों का स्पष्टीकरण करते हैं।

श्लोकार्थ:-जैसे कि मृत्युलोक-वासियों को निष्कल्मष बनाने की इच्छा वाले एवं वेदों को विभक्त करने वाले श्रीवेदव्यासजी को मनोजन्य सन्तापों से उदास मुख देखकर दानवीर देवर्षि श्रीनारदजी ने व्यासजी की आन्तरिक याचना के अनुसार उनको सर्वस्व (वीज रूप भागवत सुधा) प्रदान कर आनन्दित बनाया था, वैसे ही भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने भगवत्सेवानुरक्त अपनी परिचर्या करने वाली नदी के सहज ही में कल्मष दूर करने से और श्रद्धालु ऋषि अगस्त्य को उनकी मानसिक कामना के अनुसार श्रद्धा अर्थात्, "हे ऋषिराज! अच्छा ऐसे ही होगा" इस वचन की पूर्त्ति से सन्तुष्ट बना दिया। तात्पर्य यह है कि, ऋषि अगस्त्य ने व्यक्त वाणी से नदी की संशुद्धि के लिये अभ्यर्थना की थी और अव्यक्त वाणी से अपनी मानस-शुद्धि के लिये प्रार्थना की थी, अत: भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने अपने चरणों की रज से तो पृथ्वी पर रहने वाली नदी की शुद्धि की और "अद्धा" (एवमस्तु) इस वाक्य से हृदय पर बहने वाली शुष्क कर्म-मार्गवर्तिनी-मानसी धारा को श्रीकृष्णप्रभु की अनन्योपासना में लगाकर शुद्ध बनाई॥७४॥७५॥७६॥

श्रीवामनो वा ह्यदितिं वरेण श्रीकश्यपं सर्वनिषेविपूर्त्रा।
श्रीकृष्णहार्द्दं च विधापयिष्यँस्तद्द्वारको यो य इति प्रमुख्यम्॥७७॥
अर्यात्मकोपाङ्गतदंतरङ्गमाविष्ट आविर्वभूविथ त्वम्॥
नद्यांगदाकञ्जदरैः सुशुद्धयां मूर्तिचतुर्धा विभजन्यथादौ॥७८॥
श्रीकृष्णचन्द्रो युगशो ह्यगस्त्यदत्ताशिषं मूर्तिमतीं ददृश्वान्।
कौमोदकी नीरजपाञ्चजन्यानाञ्चावतारत्रितयं निनीथ॥७९॥

श्रीकश्यपम् (कश्यप ऋषि) च (और) अदितिम् (माता अदिति को) सर्वनिषेविपूर्त्रा (साधकों की अभिलाषा को पूर्ण करने वाले) वरेण (वर के द्वारा) श्रीवामनः (वामन भगवान्) वा (की भाँति) श्रीकृष्णहार्द्दं (श्रीकृष्ण के आभ्यन्तर अभिप्राय को) विधापयिष्यन् (धारण करवाते हुए) तद्द्वारकः (साधन के द्वारा) यः यः इति

प्रमुख्यं (जो–जो भाव जहाँ–जहाँ प्रकट होते हों, उनमें प्रधान) अर्यात्मकोपाङ्गतदन्तरङ्गं (श्रेष्ठ उपअंग रूपी अन्तःकरण में) आविष्टः (प्रविष्ट हो) यथा (जैसे) आदौ (पहिले) युगशः (त्रेता आदिक युगों के क्रम से) मूर्तिचतुर्धा (चतुर्व्यूह रूप को) विभजन् (विभक्त करते हुए) श्रीकृष्णचन्द्रः (भगवान् श्रीकृष्ण ने) "अवतार धारण कर लोक कल्याण किया था, वैसे ही" सुशुच्यां (स्वच्छ की हुई) नद्यां (नदी में) गदाकञ्जदरैः (शंख, गदा, पद्म इन तीनों आयुधों के सहित) त्वं (आप) आविर्वभूविथ (प्रकट हुए) कौमोदकीनीरजपाञ्च–जन्यानां (गदा, पद्म और शंख इन तीनों के) अवतारत्रितयं (तीन अवतार) निनीथ (धारण किये) च (और) अगस्त्यदत्ताशिषं (अगस्त्य को दी हुई भगवत्साक्षात्कार रूपी आशीर्वाद को) मूर्तिमतीं (मूर्तिमय) दृश्यवान् (दर्शन कराया) ॥७७॥७८॥७९॥

सम्पूर्ण साधकों को पवित्र बनाने वाले वर के द्वारा श्रीवामन भगवान् ने जैसे महर्षि कश्यप और माता अदिति के हृदय पटल पर भक्ति भागीरथी की अविच्छिन्न धारा बहाई थी, उसी प्रकार आपने श्रीकृष्णचन्द्र के आभ्यन्तर अभिप्राय अर्थात् भगवद्भक्ति के प्रवाह को विस्तृत रूप से बहाते हुए उस साधन–भक्ति के द्वारा जो–जो भाव जहाँ–जहाँ से प्रकट होते हैं, उनमें से अगस्त्य के मुख्य स्थान अर्थात् श्रेष्ठ उप अंग रूपी अन्तःकरण में आविष्ट होकर, जैसे पहिले त्रेता आदिक प्रत्येक युग में क्रमशः चतुर्व्यूह रूप को विभक्त करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने 'राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न एवं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि व्यूहावतारों को धारण कर जगत् का कल्याण किया था, वैसे ही शुद्ध की हुई उस नदी में महर्षि अगस्त्य की आन्तरिक कामना के अनुसार शंख, गदा और पद्म इन आयुधों के सहित प्रकट हुए अर्थात् व्यूहावतार से प्रकट हो महर्षि अगस्त्य को स्वदत्त आशीर्वाद का मूर्तिमय दर्शन करवाया ॥७७॥७८॥७९॥

अन्यास्ततो योगबलेन मातृः सङ्कर्षणं वा हरियोगनिद्रा।
नादेय आत्मीयसमर्च्चकाय पुत्राभिमत्या हरिधर्मनाम्ने ॥८०॥
दत्तो यदाशीर्वचसः स्वयं त्वं द्विद्वन्दमूर्तिरभवस्तु पित्रा।
नन्दाय कृष्णस्तु परोक्षमेव वा शूरपुत्रेण सदन्तरीहः ॥८१॥
एवं परोक्षाभिनिरस्ततापोऽगस्त्यश्चकाशे भगवत्कृतज्ञः।
विप्रः सुदामा हरिणेव यद्वत्तस्मै नमस्तै स्वसमक्षपूर्त्रे ॥८२॥

तुः (फिर) ततः (श्रीदेवकी माता के उदर में से) हरियोगनिद्रा (भगवान् की योगमाया ने) वा (यथा) सङ्कर्षणं (श्रीबलराम को) अन्याः (दूसरी) मातृः ⋆ (माताजी के प्रति) "पहुंचाया था" वा (उसी प्रकार) योगबलेन (अपने योगबल से) हरिधर्मनाम्ने (भागवत धर्म के चिह्नों से युक्त) आत्मीय समर्चकाय (भक्तजनों के हितार्थ) परोक्षं (दूर से) एव (ही) नादेये (शुद्ध की हुई व्राणावती नदी में) तु (और) पुत्राभिमत्या (पुत्रत्व के अभिप्राय से) पित्रा (पितृदेव श्रीअरुण ऋषि के द्वारा) त्वं (आप) स्वयं अपने आप ही) द्विद्वन्द्वमूर्तिः (दो द्वन्द्व अर्थात् चार मूर्ति) अभवः (हुए) यत् (जैसा कि) आशीर्वचसा (वरदान से) शूरपुत्रेण (वसुदेव जी के द्वारा) दत्तः (दिये हुए) सदन्तरीहः (सज्जनों के अन्तःकरण में विहार करने वाले) श्रीकृष्णः (परब्रह्म परमात्मा) नन्दाय (श्रीनन्दजी के लिये) चतुमूर्त्ति बने थे) एवं (इसी प्रकार) हरिणा (भगवान् के द्वारा) विप्रः (द्विजवर) सुदामा (भक्त सुदामा) इव (जैसे आनन्दित किया गया था) तद्वत् (वैसे ही) "आपके द्वारा" भगवत्कृतज्ञः (भगवान् की लीला को जानने वाले) परोक्षाभिनिरस्ततापः (परोक्ष में ही जिसके सब सन्ताप मिटा दिये) "वह" अगस्त्यः (ऋषि अगस्त्य) चकाशे (प्रमुदित किया गया) तस्मै (उस) स्वसमक्षपूर्त्रे (अपने शरणागतों की अभिलाषा को पूर्ण करने वाले) ते (तुम्हारी मूर्ति के लिये) नमः (नमस्कार है) ॥८०॥८१॥८२॥

⋆ यहाँ आदरार्थ बहुवचन समझना चाहिये।

हे योगेन्द्र! जैसे भगवान् की योगमाया ने माता देवकी के गर्भ में से श्रीसङ्कर्षण को खैंच कर श्रीरोहिणीजी के गर्भ में पहुँचाया था, वैसे ही आपने भी अपने योगबल से उक्त तीनों मूर्तियों के अतिरिक्त और भी अनेक मूर्तियाँ धारण की और भक्तों की पुत्र रूप से पूजने की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये तथा भागवतधर्म के चिह्नों वाले भक्तों को अपनी मूर्ति प्रदान की और पिता सहित दो द्वन्द्व मूर्ति के रूप में प्रकट हुए, अर्थात् वैष्णव-धर्म को उन्नत बनाने के लिये ऋषिराज श्रीअरुणमुनि से युक्त होकर श्रीनिम्बार्क रूप से द्वन्द्व बने जैसा कि श्रीनन्दजी की कीर्त्ति को बढ़ाने के लिये श्रीवसुदेवजी से युक्त होकर श्रीकृष्ण रूप से द्वन्द्व बने थे। जैसे अकिंचनता के ताप से संतप्त भक्त सुदामा का श्रीनन्दनन्दन ने दूर से ही संताप मिटाया था, वैसे ही आपने भी भगवल्लीला के विज्ञाता ऋषिराज अगस्त्य की चिन्ता को दूर से दूर कर उनको प्रमुदित बनाया, अतः अपने सन्मुख आने वालों की आपदाओं को मिटाने वाले, आचार्य पाद को मैं नमस्कार करता हूँ॥८०॥८१॥८२॥

सब्रह्मचर्यो हरिधर्मपुत्रस्तं नन्दयित्वा विविधोपकारैः।
आनृण्यपूर्वञ्च ततः प्रतस्थे श्रीपद्मनाभाङ्घ्रयवलोकनाय॥८३॥
पित्रोस्सुदर्शार्थमिवेष्टगोपौ श्रीरामकृष्णवसतो जिघांसू।
तत्रागतं त्वां सुजनाः सविद्या अभ्याननन्दुः पुरि कृष्णमद्धा॥८४॥
नो तु प्रतीपा इव कंसमुख्यास्तस्मै नमस्ते हृदनुव्रताय।
श्रीपद्मनाभाद्द्विजना अपृष्ट्वा मात्सर्यदष्टा हरिशेषभुक्तिम्॥८५॥

ततः (फिर) पित्रोः (माता, पिता श्रीवसुदेव, देवकी को दर्शन देने के लिये) "और" असतः (असुरों को) जिघांसू (मारने की इच्छा से) इष्ट गोपौः (भक्तों की रक्षा करने वाले अथवा गोप सखा) कृष्णौ (श्रीबलराम और श्रीकृष्ण) इव (की भाँति) सब्रह्मचर्यः (ब्रह्मचर्य व्रतयुक्त) हरिधर्मपुत्रः (भगवद्धर्म के रक्षक) "आप", तम् (उस अगस्त्य ऋषि को) नन्दयित्वा (आनन्दित बनाकर) आनृण्यपूर्वं

(उऋणता पूर्वक) श्रीपद्मनाभाङ्घ्र्यवलोकनाय (श्रीपद्मनाभ भगवान् के चरणों के दर्शन करने के लिये) प्रतस्थे (प्रस्थान किया) तत्र (वहाँ) पुरि (पद्मनाभ की पुरी में) आगतं (आये हुए) त्वां (आपको) सुजना: (सज्जन जन) सविद्या: (और विद्वज्जन) कृष्ण रूप) अद्धा (मानकर) अभ्याननन्दु: (नमनादि अभिवादन किया) तु (किन्तु) मात्सर्यदष्टा: (अभिमानी) श्रीपद्मनाभाद्विजना: (श्रीपद्मनाभ से विमुख) प्रतीपा: (विरोधियों) इव (की भाँति) कंसमुख्या: (आसुरी भाव वालों ने) हरिशेषभुक्तिं (भगवत्प्रसाद के लिये) अपृष्ट्वा (न पूछकर) नो (नहीं) अभ्याननन्दु: (अभिवादन किया) "फिर भी आपके चित्त में कोई क्षोभ नहीं हुआ।" तस्मै (उस) ह्रदनुव्रत्ताय (समुद्र सदृशवृत्ति वाले) ते (आपकी मूर्त्ति के लिये) नम: (नमस्कार है) ॥८३॥८४॥८५॥

भावार्थ:-जिस प्रकार प्रेमाभक्ति से सन्तुष्ट हो पुत्रत्व भाव को प्राप्त होने पर श्रीनन्दजी का अनेक लीलाओं से उपकार कर ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करते हुए ही माता-पिता के दर्शनार्थ एवं दुष्टों के दलनार्थ इष्ट मित्रों सहित भगवान् श्रीरामकृष्ण ने जब श्रीमथुरापुरी को प्रस्थान किया, तब मथुरा में पहुँचने पर दोनों मदन विमोहित मूर्त्तियों का समस्त पुरवासियों ने अभिवादन किया, उसी प्रकार पुत्रत्व भाव को प्राप्त होकर अनेक उपकारों के द्वारा श्रीअरुणमुनि और माता जयन्ती से उऋण बन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य में ही निरत रहते हुए आपने (दक्षिण देशस्थ) ⋆ श्रीपद्मनाभ भगवान् के दर्शनार्थ प्रस्थान

⋆ कुछ विद्वानों का कथन है कि, जो यहाँ पद्मनाभ भगवान् की चर्चा हुई है, वे पद्मनाभ भगवान् कुरुक्षेत्रस्य मानने चाहियें, क्योंकि आचार्यचरित्र –

ग्राहयन् भगवद्धर्मानं लोकानुग्रह काम्यया।
तीर्थयात्राभिषेणैव संप्राप्त: कुरुजाङ्गले॥
वायुह्रदिति विख्यातस्तत्रावासमचीकरत्।
अन्त:शैवा वहि:शाक्ता: सभायां वैष्णवामता:॥

किया, जब उस पुरी में आपका पदार्पण हुआ। तब वहाँ के सज्जन और विद्वज्जन महापुरुषों ने आपका हार्दिक अभिवादन किया। किन्तु कई आसुरी वृत्ति वाले दुर्जन आप से प्रतिकूलता करने पर उतारू हुए। अतएव जिस प्रकार मथुरापुरी में पदार्पण होने पर भी कंस के प्रतिपक्षी असुरों ने श्रीनन्दनन्दन का अभिवादन नहीं किया था, उसी प्रकार कुछ भगवत्प्रसाद से वंचित श्रीहरि विमुख मूढ़ घमण्डियों ने आपका अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु फिर भी आपके महोदधि तुल्य मानस सरोवर में कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ, ऐसे गम्भीर चित्त वाले श्रीआचार्यचरणों को मैं नमन करता हूँ॥८३ ॥८४ ॥८५ ॥

नानारूप धरा कौला विचरन्ति महीतले।
शास्त्राचार्यविहीनास्तान्निरीक्ष्य करुणानिधिः॥
औदुम्बरं पदा स्पृश्य तत्र जातमुवाचह।
औदुम्बर इति ख्यात आचार्यस्त्वं भविष्यसि॥

इन श्लोकों से कुरु जंगल (कुरुक्षेत्र) प्रदेश में श्रीऔदुम्बराचार्यजी का प्रकट होना अभिव्यक्त किया है। अतः जिस प्रदेश में औदुम्बराचार्य का आविर्भाव हुआ, उसी प्रदेश के पद्मनाभ यहाँ मानने चाहिये। क्योंकि उसी प्रदेश में कुरुक्षेत्र के सन्निकट "पपनांवा" नामक नगर में श्रीऔदुम्बराचार्यजी का एक स्थान भी विद्यमान है, जो कि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में बहुत प्राचीन माना जाता है, उसकी सेवा–पूजा प्रायः दाक्षिणात्य ही करते आ रहे हैं, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी के पितृदेव श्रीअरुण ऋषि के निवास स्थान 'वैदुर्य्य पत्तन' के आस–पास रहने वाले हैं। किन्तु वर्तमान समय में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत महानुभावों की उदासीनता एवं निर्मोह और असावधानता के कारण उस प्राचीन स्थान की परिस्थिति बहुत कुछ शोचनीय दशा में परिवर्तित हो चुकी है, सम्भव है यदि साम्प्रदायिक सज्जनों की कुछ दिन और भी ऐसी ही असावधानता एवं उदासीनता रही तो वह प्राचीन स्थान विनष्ट हो जायगा, अथवा उसमें साम्प्रदायिकता का लोप हो जायगा और वह किसी अन्य ही सम्प्रदाय के अन्तर्गत बन जायगा। यद्यपि प्रतिक्षण में बदलने वाले इस संसार में हजारों वर्षों से पूर्व की परिस्थिति उसी रूप से स्थिर नहीं रह सकती। तथापि, अपने पूर्वजों के स्मारक चिह्नों की

त्वां साभिलाषं वसुदेवभाजः कृष्णं जनैर्वास्ववलोक्यमानम्।
गेहङ्गतास्तत्र स्वतो विसृज्य श्रीरञ्जसा नक्तमशेषमाता ॥८६॥

नक्तं (रात्रि को) विसृज्य (छोड़कर) अशेषमाता (सम्पूर्ण जगत् को प्रवर्तित करने वाली) श्रीः (दिवाकर प्रभा) इव (जैसे) वसुदेवभाजः (भगवद्भक्तसज्जन) अञ्जसा (सहज ही में) स्वतः (अपने आप) गेहम् (अपने-अपने गृहों को) विसृज्य (त्यागकर) स्ववलोक्यमानं (सुन्दर दर्शनीय) कृष्णं (कृष्ण स्वरूप को) त्वां (तुम्हारे प्रति) साभिलाषं (उत्कण्ठा पूर्वक) गताः (अनुगत हुए) ॥८६॥

जिस प्रकार समस्त जगत् को प्रेरित करने वाली दिवाश्री (सूर्यप्रभा) रात्रि को त्यागकर सूर्य की और आकर्षित होती है, उसी प्रकार सज्जन भगवद्भक्त स्वयं अपने-अपने घरों को छोड़-छोड़ कर अत्यन्तदर्शनीय कृष्ण-स्वरूप आपश्री के दर्शनार्थ शीघ्र ही आपके

सुरक्षा के लिये प्रत्येक प्राणी को प्रयत्न करना उचित है। अस्तु, हमें तो अपना प्राकृत विषय सुलझाना है। यद्यपि उपरोक्त "औदुम्बरं पदास्पृश्य" इस श्लोक से औदुम्बराचार्यजी का प्राकट्य कुरु जंगल में माना जाय तो भी श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति के साथ कोई विशेष विरोध नहीं आता, क्योंकि मूल श्लोकों में "केवल पद्मनाभ भगवान् का ही निर्देश किया गया है। किसी देश विशेष और दिशा विशेष की चर्चा नहीं मिलती, अतः दक्षिण के पद्मनाभ माने या उत्तर के पद्मनाभ कहें, तथापि दक्षिण पद्मनाभ मानने मे संगति ठीक लगती है, कारण अगस्त्याश्रम से दक्षिण पद्मनाभ-उत्तर की अपेक्षा समीप हैं और प्रसिद्ध भी माने जाते हैं। दूसरा हेतु यह भी है कि-आचार्य चरित्रस्थ "औदुम्बरं पदास्पृश्य" इस श्लोक के "तत्र" पदको "उवाच" के साथ अन्वित करने से, यह विरोध सर्वथा दूर हो जाता है। वस्तुतः उसका आशय यही है कि-चरणकमलों के स्पर्श से अद्भुत होने वाले श्रीऔदुम्बर ऋषि को वहाँ पर श्रीआचार्य प्रभु ने आज्ञा दी कि तुम यहाँ निवास करो और श्रीऔदुम्बर संहिता रचकर इन भ्रमित जनों को सत्पथ दिखलाओ। अतः औदुम्बराचार्य की स्थिति उत्तर पद्मनाभ के समीप रही है। किन्तु प्रादुर्भाव तो दक्षिण पद्मनाभ के समीप ही मानना उचित है।

चरणों में आकर उपस्थित हो गये। यहाँ पर इस श्लोक का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वहाँ आपके पहुँचने पर जैसे रात्रि को परित्याग कर दिवाश्री श्रीसूर्य भगवान् को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार भगवद्भक्त सज्जन समुदाय की श्री पूर्व-स्थल को त्यागकर, उन्हीं सज्जनों के द्वारा सुन्दर दर्शनीय श्रीकृष्णस्वरूप आपके प्रति बड़ी उत्कण्ठा पूर्वक शीघ्र ही आ पहुँची। अर्थात् उन सज्जनों ने अपनी अन्तर्वर्तिनी उस श्री को मानों आपकी ही समझ कर आपके अर्पण कर दी हो ॥८६॥

उच्छेषपात्राणि निदिश्य याता धामस्वयं निर्गतशृङ्खलाद्यम्।
देवक्यपीवागतकंसकालं विद्युज्जलं सूचयतीव चार्तम् ॥८७॥
कृत्वा स्ववात्सल्यवशावरुद्धान्निर्णिक्तपात्रैरखिलैः समूढ़म्।
दृष्टवा द्विजाः सूर्यचमत्कृतिंहि त्वां हन्तुमुद्युक्तजना विदध्युः ॥८८॥
प्रह्लादविप्राविव दैत्यचौराः कृष्णञ्च हस्तिप्रमुखा यथा च।
त्यक्तस्वदुःखानवलोकनार्थे संवीक्ष्यमाणस्य तदग्रणीशम् ॥८९॥
पत्स्पृष्ट आत्मीय सखो बभूव ह्यौदुम्बरो जन्तुरिवात्मरूपः।
कृष्णस्य यद्वत्कृकलाससर्पौ गन्धर्वमुख्याबतिचित्ररूपौ ॥९०॥
श्रीधर्मसूनोरिव सर्पराजो रामस्य यद्वच्च शिला त्वहल्या।
देदीप्यमाना सुविमानविष्टा तस्मै नमस्ते समरूपदात्रे ॥९१॥

उच्छेषपात्राणि (परित्याजापात्र) निदिश्य (मानकर) अपि (भी) आर्तं (पिपासित जन समुदाय को) विद्युत् (बिजली) जलं (वार्षिक जल) सूचयती (सूचित करती हुई) इव (जैसे) आगतकंसकालं (आये हुए कंसरूपी काल को) देवकी (माता देवकी) इव (समान) स्ववात्सल्यवशावरुद्धान् (अपनी सदयता से अवरुद्ध) कृत्वा (कर) निर्गतशृङ्खलाद्यं (सांसारिक प्रपंचों से रहित) धाम (तपोभूमि को) स्वयं (एकाकी) याता (जायेंगे) "ऐसे" अखिलैः (समस्त) निर्णिक्तपात्रैः (संशुद्ध सुपात्र जनों द्वारा) सूर्य चमत्कृतिंः (सूर्य के प्रकाश के समान रूप) समूढं (जाने हुए) त्वां (आपको) दृष्ट्वा

(देखकर) उद्युक्तजना: (वार किये हुए) द्विजा: (ब्राह्मण) प्रह्लादविप्रौ (भक्त प्रह्लाद और परम ज्ञानी जड़भरत इन दोनों को) दैत्यचौरा: (राक्षस और चोरों की) इव (भाँति) च (और) कृष्णं (श्रीकृष्णचन्द्र को) हस्तिप्रमुखा: (कुवलियापीड़ हाथी आदिक) 'के' यथा (समान) हन्तुं (मारने के लिये) विदध्यु: (प्रयत्न करने लगे) "उस समय" यद्वत् (जैसे) कृष्णस्य (श्रीकृष्णचन्द्र के) "चरणस्पर्श से" कृकलास-सर्पौ (गिरगिट और सर्प) गन्धर्वमुख्यौ (गन्धर्वों में से प्रधान दो गन्धर्व) अतिचित्ररूपौ (सुन्दर स्वरूप बन गये थे) श्रीधर्मसूनो: (युधिष्ठिर के) "चरणस्पर्श से", सर्पराज: (सर्प) इव (जैसे) च (और) रामस्य (श्रीरामचन्द्र के) "चरणस्पर्श से" शिला (विस्तृत पत्थर, सुविमानविष्टा (विमानस्थ) देदीप्यमाना (प्रभावपूर्ण) अहल्या (गौतम ऋषि की धर्मपत्नी) आविर्भूता (प्रकटित हुई) "उसी प्रकार" त्यक्तस्वदु:खान् (अपने स्वरूप को त्यागे हुए दु:ख रूपों को) अवलोकनार्थं (देखने के लिये) तदग्रणीशम् (उनके नेताधिपति को) संवीक्षमाणस्य (देखने वाले आपके) पत्स्पृष्ट: (पैरों के स्पर्श होने वाला) औदुम्बर: (गूलर का फल) एव (ही) जन्तु: (चैतन्यरूप से) आत्मरूप: (अपने समान ही रूपाकृतिवान्) इव (समान) आत्मीयसख: (अपने अनुचर) बभूव (बना) तस्मै (उस) समरूपदात्रे (समान रूप प्रदान करने वाले) ते (आपके लिये) नम: (नमस्कार हो) ॥८७॥से॥९१॥

हे प्रभो! उन पद्मनाभ भगवान् की उस पुरी (भूत पुरी) में जिन लोगों ने आपका अभिनन्दन नहीं किया, उन सब पर भी आपने किसी प्रकार का क्षोभ नहीं किया, अपितु जिस प्रकार से श्रीमती माता देवकी ने अपने भ्राता कंस को मृत्यु के सन्निकट पहुँचा हुआ जानकर उसके किये हुए अपराधों को कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया था, अपितु आर्त जनों पर जैसे घन दामिनी संघर्षजन्य जल की वर्षा की भाँति क्षमा की ही वर्षा की थी, जैसे कि आर्त (तृषित) धान्यादि पर मेघ वर्षा किया

करता है, उसी प्रकार आपने भी उनको उच्छेष पात्र (कुपात्र) समझकर उनके मन्द कृत्यों पर विशेष ध्यान नहीं दिया और शान्तिपूर्वक अपने एकान्तिक तेज–पुंज अतएव शृङ्खलादि (ताला, किंवाड़, परिकोट) आदि से रहित तपोवनीय निवास स्थान पर गमन किया। इस प्रकार दुर्बुद्धि जनों ने जब अपने ऊपर आपकी शान्त भावना और वात्सल्य भाव देखा तो लज्जित होकर उस समय तो कुछ रुक गये, परन्तु सूर्य को भी चकित करने वाली आपकी विचित्र आभा उन मूर्खों से सहन नहीं हो सकी। अत: आपके उस तिमिरहर तेज को देखकर उन मूढ उलूकों ने द्वेष किया और जैसे हिरण्यकशिपु आदि राक्षसों ने भक्त प्रह्लाद पर और दुर्गा उपासक चोरों ने तपोवनस्थ महात्मा जड़भरतजी पर एवं कुवलयापीड़ हाथी आदि ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पर धावा किया था, उसी प्रकार काले–काले मदोन्मत्त मांसाहारी उन भयंकर–ब्रह्मराक्षसों ने आप पर आक्रमण किया। उस समय आपने ब्रह्मवर्चस आदि स्व (द्रव्य) को त्यागे हुए (भविष्य में दु:खित होने के कारण) दु:खरूप उन धावा करने वालों को देखने के निमित्त दृष्टि डाली और सर्व प्रथम उनके अग्रग्रामी नेता को देखा ॥८७॥८८॥८९॥

हे आश्चर्यसिन्धो! उस समय आप तपोवनीय एकान्त स्थल में एकाएकी अपने ईश आराधनादि कृत्य में संलग्न थे और प्रचण्ड कोपानल से धधकती हुई भयंकर आसुरी सेना आपके सन्मुख आ पहुँची थी, ऐसी परिस्थिति में आपने जो विचित्र आश्चर्य प्रकट किया, वह आपकी परिपूर्ण भगवत्ता का प्रतिपादन करने वाला था।

जैसे 'भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों के स्पर्श से' गिरगिट और सर्प क्रमश: नृपति और गन्धर्व बन सन्मुख उपस्थित हो स्तुति करने लगे थे, एवं महाराजा युधिष्ठिर के 'चरणस्पर्श' से सर्प ⋆ और मर्यादा पुरुषोत्तम

⋆ जब राजा नहुष–अपने तपोवल से सदेह स्वर्ग के राज्य सिंहासन पर आरुढ़ हो गया, तब उसने इन्द्रोचित समस्त कार्यों में अपना आधिपत्य जमा

भगवान् 'श्रीरामचन्द्रजी के चरणारविन्द की रज' के स्पर्शमात्र से शिला, ये दोनों क्रमशः दिव्याकृति मनुष्य और अहिल्या के रूप से प्रकट हो स्तुति कर विमानों में बैठकर देदीप्यामन स्वरूप से सुशोभित हुए थे, उसी प्रकार ऊपर से पड़ा हुआ गूलर का फल आपके श्रीचरणों से स्पर्श होते ही अपने रूप और आकृति के समान ही रूप और आकृतिवान् आपका परिचारक-औदुम्बराचार्य (मैं ग्रन्थ कर्त्ता) सहसा प्रकट हुआ। ऐसे एक तुच्छ जड़ पदार्थ को अपने समान रूपादि ऐश्वर्य प्रदान करने वाले आपके चरण–कमलों को मैं नमस्कार करता हूँ॥९०॥९१॥

प्रह्लादवत्तैर्निहितस्त्वमग्नाविद्धेन दग्धः स इवैव तत्र।
तेजोमयोऽभूद्भगवान् सधामा संपातितं त्वामवलोक्य भूयः॥९२॥
श्रीपद्मनाभस्तु नृसिंहवच्च, संललेलिहानः परितोविधर्मान्।
निष्क्रामितस्त्वं त्वनलात्समूढात्स्तुत्वोरुधादैन्यपरैर्वचोभिः॥९३॥
श्रीपद्मनाभान्निजजीवनत्रे वित्रस्तचित्तैः समितेशहार्द्दैः।
विप्रैरुपप्रैषित आत्मसेव्यं, प्रह्लाद आर्यैरिव नारसिंहम्॥९४॥
केषान्तु कन्याहननादिभींत, आरण्यवह्निं त्विव कृष्णचन्द्रः।
श्रीपद्मनाभस्य रुडग्निमाधाः संधाप्य नेत्राणि शरण्यपात्त्वम्॥९५॥

लिया। दैवयोग से उस समय उसको यह अभिलाषा हुई कि मैं जब इन्द्रासन पर बैठा हुआ हूँ तो ऐसी परिस्थिति में इन्द्राणी पर भी मेरा आधिपत्य है ही। अत:अन्त:पुर में चलकर इन्द्रोचित विलास करूँ, इस अभिलाषा से प्रेरित होकर राजा नहुष ने इन्द्राणी के पास खबर भेजी कि, वर्तमान स्वर्गाधिपति अन्त:पुर में पधारना चाहते हैं, इस पर इन्द्राणी ने प्रत्युत्तर भेजा कि यदि सप्तऋषियों के कन्धों पर पालकी रख, उसमें बैठकर आप आ सकें तो यहाँ पधार सकते हैं। शची के इस प्रत्युत्तर के अनुसार राजा नहुष हठात् अपनी पालकी में सप्त ऋषियों को जुतवाया और अभिमान–पूर्वक उसमें बैठकर चला, मार्ग में नहुष ने प्रत्येक ऋषि को चलने के लिये प्रेरणा करना आरम्भ किया और बारम्बार सर्प, सर्प, ऐसे शब्द कहने लगा, जिस पर ऋषियों ने बिगड़कर यह शाप दे दिया कि हमारा अनादर कर हमें सर्प–सर्प कह रहा है अत:, तेरा शीघ्र अध:पतन हो और सर्प की योनि तुम्हें प्राप्त हो। ऋषियों के

तत्र (वहाँ उद्यान में) तै: (उन असुर ब्राह्मणों के द्वारा) प्रह्लादवत् (प्रह्लाद की भाँति) अग्नौ (अग्नि में) निहित: (रखा हुआ) स (उस) 'के', इव (समान) एव (ही) त्वं (तू) इद्धेन (प्रज्वलित अग्नि से) दग्ध: (दग्ध किया गया) भूय: (फिर) तेजोमय: (प्रखर तेजस्वरूप) अभूत् (प्रतीत हुआ) तु (फिर) त्वां (तुमको) संपातितं (अग्नि में डाले हुए) अवलोक्य (देखकर) सधामा (विशिष्ट तेज पुंजवान्) भगवान् (अन्तर्यामी) श्रीपद्मनाभ: (अर्चा विग्रह श्रीपद्मनाभ भगवान्) श्रीनृसिंहवत् (श्रीनृसिंह के समान) विधर्मान् (असुर स्वभाव वाले दुर्जनों को) परित: (चारों और से) संलेलिहान: (ग्रसित करता हुआ) तु (ही) निष्क्रामित: (निकला) च (और) तु (फिर) समूढात् (भौतिक एवं अचेतन) अनलात् (अग्नि में से) आप निकले "तब" दैन्यपरै: (दीनता युक्त) वचोभि: (वाक्यों से) उरुधा (बहुत सी) स्तुत्वा (स्तुति कर) आत्मसेव्यं (अपने परमोपास्य) नारसिंह (श्रीनृसिंह भगवान् के प्रति)

शाप से उसी क्षण राजा नहुष गिरने लगा, परन्तु गिरते-गिरते ऋषियों के चरणों में गिरकर राजा ने यह प्रार्थना की हे ऋषिजनों यह तो आपने बड़ी कृपा की है, जिससे कि मेरा अभिमान चूर-चूर हुआ, परन्तु कृपया यह तो अवश्य ही बतला दें कि मुझ अपराधी का इस सर्पयोनि से उद्धार कैसे होगा? दयालु ऋषियों ने कहा कि, धर्मराज महाराजा युधिष्ठिर के द्वारा तुम्हारा उद्धार हो जायगा।

दैवयोग से वनयात्रा करने के समय महाराजा युधिष्ठिर से सर्प रूपी राजा नहुष की भेंट हुई और कुछ सम्भाषण के अनन्तर ही राजा नहुष की वह योनी छूट गई। यह प्रसंग महाभारत वन-पर्व अध्याय २८३ में आया है।

"नहुषोऽपि मुने: शापाद्विमुक्त: प्रीतमानस:।
दिव्यरूपधर: श्रीमान्प्रत्युवाच युधिष्ठिरम्॥
संभाष्यं साधुभि:पुण्यमितिसत्यवती श्रुति:।
सर्पत्वात् पश्य मुक्तोऽहं त्वया संभाष्य साधुना॥

अर्थात् सज्जनों के सम्भाषण-मात्र से भी कितने ही महान् अपराध शान्त हो जाते हैं। देखिये मैंने आपसे सम्भाषण कर फिर से दिव्य आकृति प्राप्त की।

आर्यैः (देवों के द्वारा) प्रह्लादः (प्रह्लाद भक्त) "की" इव (भाँति) श्रीपद्मनाभात् (पद्मनाभ भगवान् के कोप से) निज जीवनत्रै (वचने के लिये) शमितेशहार्दैः (घमण्ड रहित) वित्रस्तचित्तैः (भयभीत चित्त वाले) विप्रैः (ब्राह्मणों के द्वारा) त्वं (तुम) उपप्रैषितः (श्रीपद्मनाभ भगवान् के निकट भेजे गए) तु (तदनन्तर) आरण्यवह्निं (जंगल की ज्वाला को) केषां (किसी की) कन्याहननादिभीतः (वालाओं के विनाश की सम्भावना से चिन्तित) श्रीकृष्ण (श्रीनन्दनन्दन) "के" इव (समान) नेत्राणि (सबके नेत्रों को संधाप्य) (बन्द करवाकर) शरण्यपात् (शरणागतपाल) त्वं (तुमने) श्रीपद्मनाभस्य (श्रीपद्मनाभ भगवान् की) रुडग्निं (उस प्रलयकारी क्रोधानल को) आधाः (चारों ओर से अपने में समाविष्ट की) ॥९२॥९३॥९४॥९५॥

भावार्थ:-श्रीनिम्बार्क भगवान् के विस्मयावह प्रभाव (गूलर के फल से तेजोमयी मूर्त्ति का प्रकट होना) को देखकर वह सेना चकित होकर पीछे हटी और सभी सैनिक चिन्ता करने लगे उनके अग्रणी ने यह सम्मत्ति प्रकट की, कि सन्मुख होकर इनको विजय करना कठिन है, अतः इस जंगल के लक्कड़, फूँसकण्टक इकट्ठे कर इनके चारों ओर डालकर आग लगा देनी चाहिये। इस प्रकार सभी मूढ़ विपक्षियों ने ईधन इकट्ठा कर अग्नि लगा दी, और अपने मन में यह आनन्द मनाया कि अब यह जलकर भस्म हो जायगा। किन्तु-आप उस प्रज्वल्लित ज्वाला के अन्दर उसी प्रकार शान्त वृत्ति से स्थिर रहे और उस समस्त ज्वाला को अपने अन्दर लीन कर गये, अतएव उस प्रचण्ड अग्नि के भीतर बैठे हुए श्रीनिम्बार्कभगवान् अपरिमित तेजवान्! दीखने लगे, तब श्रीपद्मनाभ भगवान् ने श्रीनृसिंह की तरह जीभ को चारों ओर फैलाते हुए एवं चारों ओर से उन दुष्टों को नष्ट करते हुए अग्नि के अन्दर से आपको बाहर निकाला, इस प्रकार श्रीपद्मनाभ भगवान् का आवेश देखकर उन समस्त विप्र सैनिकों ने बड़ी दीन वाणी से आपकी प्रार्थना करना आरम्भ किया॥९२॥९३॥

जैसे भयंकर मूर्त्ति देखकर भयभीत देवों ने श्रीनृसिंह भगवान् के चरणों में भक्त प्रह्लाद को प्रार्थना द्वारा शान्ति के निमित्त भेजा था, उसी प्रकार श्रीपद्मनाभ भगवान् के क्रोधानल से अपना उद्धार चाहने वाले भयभीत उन विप्र सैनिकों ने अपनी ओर से प्रार्थनारूप भेंट भेजी ॥९५ ॥

(उस समय की परिस्थिति को देखकर बहुत से पक्व बुद्धियों की यह धारण होती थी) जैसी कि गोप-गोपी आदि प्राणियों को बचाने निमित्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने दावानल (अग्नि) का पान किया था, उसी प्रकार आप भी नेत्रों को मुँदवा कर सहज ही में उस समस्त भीषण (चौतरफा लगी हुई आग और श्रीपद्मनाभ भगवान् के क्रोधानल) को पी गये और शरण में आये हुए उस सैनिक-समुदाय की रक्षा की ॥९४ ॥९५ ॥

निश्शङ्कयँश्च स्वविभीत विप्रानात्मप्रशान्त्या अगमोऽब्धितीरम् ।
दृष्ट्वागतं त्वां स कृतागनम्रः सार्हाग्रहस्तश्च समभ्यनन्दत ॥९६ ॥
श्रीरामकृष्णानिव कम्पमानः संशामयन्नेव तरङ्गवातैः ।
त्वच्छान्तिभावाद्भगवत्प्रशान्तिर्भूता तथापि स्तवनैः समीड्य ॥९७ ॥

च (और) स्वविभीतविप्रान् (आपके भय से डरे हुए ब्राह्मणों को) आत्मप्रशान्त्यै (अपनी शान्ति के लिये) निःशङ्कयन् (सन्देह रहित बनाते हुए) "तुम" अब्धि तीरं (समुद्र के तट पर) अगमः (जा पहुँचे) सः (वह समुद्र) त्वां (आपको) आगतं (आये हुए) दृष्ट्वा देखकर) सार्हाग्रहस्तः (अपने दोनों हाथों में पूजा की सामग्री लिये हुए) कृताङ्गनम्रः (शरीर को नीचे झुकाये हुए) कम्पमानः (काँपता हुआ) तरङ्ग वातैः (अपनी तरंगों की शीतल समीर से) च (और) तथा (गुण गण सूचक) स्तवनैः (स्तोत्रों से) श्रीरामकृष्णान् (भगवान् श्रीरामकृष्ण) 'के', इव (समान) संशामयन् (शान्त करने लगा) समीड्य (हे सर्वदा स्तुति करने योग्य) त्वच्छान्तिभावात् (आपके शान्त भाव होने से) भगवत्प्रशान्तिः (श्रीपद्मनाभ की शान्तता) अपि (भी) भूता (हो ही गई) ॥९६ ॥९७ ॥

भावार्थः-जब निःसन्दिग्धता एवं अभयता देकर शान्ति के निमित्त आप समुद्र के तट पर पधारे, तब आपको समीप पधारते हुए देखकर पूजा की सामग्री लेकर मूर्त्तिमान समुद्र उपस्थित हुआ और बड़ी नम्रता से पूजन एवं आपका संस्तवन किया, जिस प्रकार कम्पायमान होकर समुद्र ने भगवान् श्रीराम एवं लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का स्तवन आदि से प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त किया था, उसी प्रकार अपनी तरंगों से संस्पृष्ट शीतल समीर (वायु) से आपकी सेवा कर उस अन्तर्भूत प्रचण्ड ज्वाला की शान्ति की। यह घटना भक्तों को श्रीपद्मनाभ भगवान् से आपका तादात्म्य प्रदर्शित करने वाली थी, कारण हे सर्वविध अर्चनीय! आपकी उस संयुक्त-ज्वाला जन्य प्रतप्तता के शान्त होते ही, उसी स्तवनादि अभ्यर्हण (पूजनादि) से भगवान् श्रीपद्मनाभ का भी वह प्रचण्ड कोपानल उसी क्षण शान्त हो गया ॥९७॥

श्रीपद्मनाभं तु विधाय शान्तमादिश्य पायस्यकटाहभागम्।
विप्रानगर्वानभिमानशून्यान् कृष्णोऽनुतप्तानिवयाजकाँश्च ॥९८॥
औदुम्बराग्रण्य उपेत्य शिष्यान् संसान्त्वयामासिथ मोदकर्ता।
श्रीपद्मनाभस्य पदक्षितिःसा त्वद्भक्तवात्सल्यमहो चकास्ति ॥९९॥
छिन्नाऽपि भूयोऽद्य कृता स्वयं वा श्रीरामविक्रान्तिधरं कुटिल्यम्।
पूर्निम्नगानामिव सूचयन्ती तस्मै नमस्ते हरिविश्रुताय ॥१००॥

तु (फिर) श्रीपद्मनाभं (श्रीपद्मनाभ भगवान् को) शान्तं (शान्ति पूर्ण) च (और) अनुतप्तान् (पीछे से सन्ताप करने वाले) याजकान् (यज्ञ करने वाले द्विजों को) श्रीकृष्णः (श्रीनन्दनन्दन) के इव (समान) विप्रान् (उन ब्राह्मणों को) अगर्वान् (गर्व रहित) अभिमान् शून्यान् (मद विचूर्णित) विधाय (बनाकर) पायस्य कटाहभागं (अग्निहोत्रादि-सत्कर्मों में भाग लेने की) आदिश्य (आज्ञाकर) औदुम्बराग्रण्यः (औदुम्बर आदिक) शिष्यान् (शिष्यों के) उपेत्य (समीप पधार कर) मोदकर्ता (भक्तजनों को प्रमुदित बनाने वाले) संसान्त्वयामासिथ

(आपने शान्ति प्रदान की) निम्नगानां (नदियों का) पूः (जल समुदाय रूपी महोदधि के) श्रीरामविक्रातिधरं (श्रीरघुनाथजी के विक्रम को धारण करने वाली) कुटिल्यं (कुटिलता को) सूचित करती हुई) इव (समान) छन्ना (विच्छिन्न हो चुकने पर) अपि (भी) भूयः (फिर से) अद्यः (आज) स्वयङ्कृता (आपकी निज कृत) सा (वह) श्रीपद्मना-भस्य (पद्मनाभ भगवान् की) पदक्षितिः (चरण विन्यास प्रणाली) अहो! (आश्चर्य पूर्वक) त्वद्भक्तवात्सल्यं आपकी भक्त–वत्सलता को) चकास्ति (प्रकटित करती है) ॥९८॥९९॥१००॥

भावार्थः–जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने यज्ञादि कर्मों से गर्वित माथुर ब्राह्मणों के अभिमान को चूर–चूर कर उनमें सरलता का आविर्भाव किया था, उसी प्रकार आपने भी दक्षिण देशीय उन मूढ़ ब्राह्मणों के अहंकार को नष्ट कर उनको सरल चित्त बना दिया और क्षीर आदिक पदार्थों की भोग सामिग्री द्वारा उनको श्रीपद्मनाभ भगवान् की पूजा का आदेश कर श्रीपद्मनाभ भगवान् को सन्तुष्ट किया। फिर श्रीऔदुम्बराचार्य आदिक अपने शिष्यों के निकट आकर, उनको सान्त्वना दी। यह आपकी भक्तवत्सलता एवं दयालुता ऐसे प्रतीत होती है मानों भगवान् श्रीरामचन्द्र के आवेश के कारण बढ़ी हुई कुटिलता से नीचे दबी हुई अथवा छिन्न–भिन्न भक्तवत्सलता तथा दयालुता फिर से आपने प्रकट की हो, ऐसे आपकी भक्तवत्सलता को वह श्रीपद्मनाभ की भूमि प्रकाशित करती है॥९८॥९९॥१००॥

दैत्यस्वभावान् प्रतिरुद्धमार्गः संसेवितः सर्वहितानुवर्त्ती।
श्रौतक्रियानिष्ठहृदो विधाय शुद्धस्वभावान् प्रतिषेध्य भक्तान्॥१०१॥
कृष्णस्य ह्याचार्य वपुर्भवान् श्रीशौद्धोदनिर्वाह्युपधर्मनाशः।
संवेष्टितागनेः शिरसो महाद्रेः श्रीरामकृष्णाविव सानुगोऽगाः॥१०२॥

आचार्य (हे जगद्‌गुरो!) भवान् (आप) कृष्णस्य (श्रीनन्दनन्दन के ही) वपुः (शरीर हो) "अतः" संसेवितः (सेवा किये जाने पर) सर्वहितानुर्ती (समस्त साधकों का हित करते हो) श्रीशौद्धौदनिः

(भगवान् बुद्ध) वा (समान) उपधर्मनाश: (धर्माभासों को निराकरण करने वाले दैत्यस्वभावान् (आसुरी भाव युक्त) श्रौतक्रियाऽनिष्टहृद: (वैदिक मार्ग को तितर-वितर करने की इच्छा वालों को) प्रतिषेध्य (निषेध कर) शुद्धस्वभावान् (शुद्धस्वभावान्वित) भक्तान् (भक्ति युक्त) विधाय (बनाकर) प्रतिरुद्धमार्ग: (सामान्य मार्ग के रुक जाने पर) संवेष्टिताग्ने: (चारों ओर अग्नि से घिरे हुए) महाद्रे: (गिरिराज के) शिरस: (शिखर से) श्रीरामकृष्णौ (श्रीबलराम और नन्दनन्दन) "के" इव (समान) सानुग:। अपने अनुचर वर्ग सहित "श्रीद्वारिका को" * अगा: (आपने प्रस्थान किया) ॥१०१॥१०२॥

भावार्थ:-सभी प्राणियों के हितैषी अतएव सभी से सम्यक् समर्चित होते हुए भी आपका उन दुष्टों ने मार्ग रोका, फिर भी आपने उन आसुरी वृत्ति वाले एवं भक्तजनों की निन्दा करने वाले नामधारी ब्राह्मणों की चित्त वृत्तियां का संशोधन कर उनको वैदिक धर्म परायण बना, जैसे चारों ओर से अग्नि लगाये हुए पहाड़ के ऊँचे शिखर पर से श्रीबलरामजी के सहित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारिकापुरी पधार गये (किन्तु किसी को दृष्टिगोचर नहीं हुए थे) उसी प्रकार आप भी चौतरफा धधकती हुई अग्नि की ज्वाला को अपने भीतर लीन कर क्षण भर में द्वारिकापुरी आ पहुँचे। क्यों न हो! आपकी यह आश्चर्यमय चमत्कारिणी लीला? आप साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के ही तो अवतार हैं। अतएव आप सत्पथ के प्रवर्तक और अधर्म अर्थात् कुपथ को नष्ट करने वाले हैं॥

तात्पर्य यह है कि श्रीनिम्बार्काचार्य को शास्त्रों में कई जगह श्रीसुदर्शन-चक्रराज का अवतार बतलाया है, अत: लोक में भी प्राय: यही प्रसिद्ध है, किन्तु साम्प्रदायिक कई एक विवेचना ग्रन्थों में

---

* यह श्लोक उत्तरान्वयौ है, अत: अग्रिम श्लोकस्थ "श्रीद्वारका" पद को यहाँ लगाना चाहिये।

श्रीनिम्बार्काचार्य साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र के ही अवतार हैं, यह सिद्ध किया है, इस आशय को पुष्ट करने वाले यद्यपि ऐतिह्यतत्वराद्धान्त, "आचार्य चरित्र" आदिक कई एक ग्रन्थ हैं, तथापि प्राचीन ग्रन्थों में श्रीऔदुम्बराचार्य विरचित यह "श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति" और "श्रीऔदुम्बर संहिता" ये दो ग्रन्थ विशिष्ट प्रमाणित माने जायेंगे, क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ श्रीनिम्बार्क भगवान् के पूर्ण कृपापात्र और उनके साक्षात् शिष्य के रचे हुए हैं, जोकि श्रीआचार्य चरणों के प्रसाद मात्र से प्रादुर्भूत होकर उनकी ही आज्ञानुसार प्रायः उसी समय रचकर साम्प्रदायिक जगत् का अनुपम हित किया है। यहाँ पर यह सन्देह अवश्य होगा कि, भविष्य पुराणादि शास्त्रों में जब श्रीनिम्बार्काचार्य सुदर्शन के अवतार माने गये हैं, तब एक दो ग्रन्थों के कथन से उनको "श्रीकृष्णावतार" एवं श्रीअनिरुद्धावतार कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि जब तक ऐक्य रूप से श्रीकृष्ण अथवा श्रीसुदर्शन इन तीनों में से किसी एक का अवतार निश्चित न हो सके, तब तक संदिग्धता ही बनी रहेगी। अतएव उपरोक्त सन्देह को दूर करने के लिये यहाँ हम एक संक्षिप्त आचार्यचरित्र का प्रमाण उद्धृत कर देना उचित समझते हैं, जो कि, विक्रम सं० १९१२ में किसी दूसरी पुस्तक से नकल किया हुआ है और श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठ परशुरामपुरी (सलेमाबाद) में रखा हुआ है और भी कई एक जगह मिलता है। इस ग्रन्थ के आदि में "निवसतुहृदयमदीये" इस श्लोक से मंगलाचरण कर फिर प्रतिज्ञा की है कि:-

"साधनप्रकारस्य चातिनिगूढ़त्वात् तद्दर्शनाय स्वयमेव भगवाँच्छ्री-पुरुषोत्तमः श्रीमन्निम्बार्करूपेणावनितले तैलङ्गदेशे द्विजवरात्मनाऽ-वतार"।

भावार्थः-भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष के साधन अत्यन्त निगूढ़ हैं, अतः उनको सर्व मुमुक्षुओं के उपकारार्थ प्रकाशित करने के लिये साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम भगवान् ही श्रीनिम्बार्क रूप से तैलङ्ग देश में

ऋषिराज की आकृति में प्रकट हुए। इसी आशय को "औदुम्बर संहिता" में निश्चित किया है:-

श्रीमते सर्वविद्यानां प्रभवाय सुब्रह्मणे।
निम्बादित्याय देवाय जगज्जन्मादिकारिणे॥१॥

सुदर्शनावताराय नमस्ते चक्ररूपिणे, इत्यादि। (औदुम्बर संहिता) अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं के केन्द्र, जगत् की उत्पत्ति, पालना एवं संहार करने वाले सुब्रह्म निम्बादित्य भगवान् को तथा चक्ररूप श्रीसुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्क भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार से संक्षिप्त 'आचार्य चरित्र' ग्रन्थ के कर्त्ता ने अपनी सिद्धान्त रूप प्रतिज्ञा कर उसको दृढ़ बनाने के लिये वही शंका की है कि, लोक में तो श्रीनिम्बार्काचार्य सुदर्शन के ही अवतार माने जाते हैं, फिर श्रीकृष्ण के अवतार होने की कल्पना करना उचित नहीं।

उ०-स्वेच्छया धर्मसंस्थापनार्थमधर्मोपशमनार्थञ्च स्वीयानां वाञ्छापूर्त्यर्थञ्च विविधविग्रहैराविर्भावविशेषो हि 'अवतार:'।

अपनी इच्छा से ही धर्म की स्थापना और अधर्म का शमन एवं भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिये अनेक प्रकार के स्वरूपों से प्रकट होना ही अवतार कहलाता है। जो कि गुणावतार, पुरुषावतार और लीलावतार इन तीन प्रकारों से हुआ करता है।

गुणावतार- जिनमें सत्त्वगुण नियन्ता-जगत् के पालनकर्त्ता विष्णु (अवतार) हैं और रजोगुण नियामक सृष्टि के उत्पादक एवं तमोगुण नियन्ता जगत् का संहार करने वाले रुद्र-काल आदिक अवतार हैं।

पुरुषावतार:-

प्रथमं महतः सृष्टा द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥१॥

इस स्मृति प्रमाण से महत्–तत्त्व को उत्पन्न करने वाले प्रकृति तत्त्व के नियन्ताकारणार्णव (कारण समुद्र) में शयन करने वाले प्रथम पुरुषावतार हैं। और गर्भोदशायी (गर्भोदसिन्धुवासी) समष्टि जगत् के अन्तर्यामी द्वितीय पुरुषावतार हैं। एवं क्षीरोदशायी (क्षीरसिन्धुवासी) व्यष्टि जगत् के अन्तर्यामी तृतीय पुरुषावतार हैं।

लीलावतार– लीलावतार दो प्रकार के होते हैं, एक स्वरूपावतार और दूसरा अंशावतार। इन दोनों में से अंशावतार के दो भेद हैं, एक स्वांशावेश–अवतार और दूसरा शक्त्यंशावेश अवतार अर्थात् पहिला अपने ही अंश के आवेश से होने वाला और दूसरा अपनी शक्ति के अंश के आवेश से होने वाला।

उदाहरण–

स्वांशावेशावतार–मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, ह्यग्रीव, हंस, ये स्वांशावेशावतार हैं।

शक्त्यंशावेशावतार–नर–नारायण, धन्वन्तरि, परशुराम, कपिल, ऋषम, सनकादि, नारद, व्यास इत्यादि शक्त्यंशावेषावतार हैं।

स्वरूपावतार–श्रीकृष्ण, श्रीराम, नृसिंह आदिक पूर्णावतार अर्थात् स्वरूपावतार हैं।

श्रीपरात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के उपरोक्त अवतारों में श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान् के 'ऋषिरूपधर:क्वापि' इत्यादि वचनों के अनुसार लीलावतार हैं, क्योंकि इस भागवत के वचन में और–

उदय व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।
निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थ प्रदायक:॥

इस भविष्यपुराण के वचन में श्रीव्यासदेवजी ने श्रीनिम्बार्काचार्य को भगवान् शब्द से स्मरण किया है, और 'श्रीऔदुम्बर संहिता' में श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने ब्रह्म तथा जगज्जन्मादि कारण कह श्रीनिम्बार्का–

चार्य की स्तुति की है। इस श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति में भी समस्त अवतारों की लीला का अनुकरण एक ही 'श्रीनिम्बार्क अवतार' में बतलाया है और आगे विराट्-रूप का दर्शनकर 'श्रीनिम्बार्क-विग्रह' में समस्त भूमण्डल और आकाशादि तत्त्वों की समावेशता प्रकट की है। ('श्रीनिम्बार्क-विक्रान्ति' श्लोक १४५ से १७२ तक श्रीनिम्बार्काचार्य के विश्वरूप वर्णन को देखना चाहिये)।

इस आशय को आधुनिक स्मार्त्त पं० कमलाकर भट्ट ने भी स्वसंग्रहीत 'निर्णय-सिन्धु' के 'जन्माष्टमी निर्णयादि' प्रकरण में संकेत रूप से अभिव्यक्त किया है कि, उपरोक्त श्लोक में जो निम्बादित्योपासकों की उदयव्यापिनी तिथि का ग्रहण करना लिखा है सो ठीक है, परन्तु

'इदानीन्तने निम्बादित्योपासनाया: क्वाप्यभवात्' ★

अर्थात् इस समय निम्बादित्य भगवान् की उपासना कहीं नहीं दीखती। अत: उन उपासकों के श्रद्धेय कपालवेध का यहाँ क्या उपयोग होगा? इस तात्पर्य से कपालवेध का अनङ्गीकार किया है। सम्भव है कि जिस देश और काल में कमलाकर थे, उस देश और उस समय में उनको कोई निम्बादित्योपासक दृष्टिगत नहीं हुआ होगा, अत: कपालवेध की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। किन्तु-"वाञ्छितार्थ प्रदायक:" इस पद का उपास्यदेव अर्थ कर श्रीनिम्बार्काचार्यजी की भगवत्ता का पूर्ण प्रतिपालन करना आवश्यक समझा।

★ कमलाकर भट्ट की अल्प, अतएव असर्वज्ञ एक देशीय दृष्टि में उनके आसपास कपालवेध को मानने वाला कोई नहीं आया होगा। किन्तु उदय व्यापिनी इस श्लोक को श्रीकमलाकर भट्टजी ने भी 'व्रतहेमाद्रि' से उद्धृत किया है और व्रतहेमाद्रिकार ने यह भविष्य-पुराण में श्रीवेदव्यास का वचन होना लिखा है। यह बात स्वयं श्रीकमलाकर भट्टजी ने स्वीकार की है। इससे श्रीनिम्बार्क भगवान् का श्रीवेदव्यासजी के पूर्व अथवा समसामयिक होना तो सिद्ध हो ही चुका और भगवान् शब्द के प्रयोग से उनकी सर्वज्ञता और पूज्यता भी सिद्ध हो चुकी।

प्रश्न- यदि श्रीनिम्बार्काचार्यजी साक्षात् श्रीकृष्ण के लीलावतार प्रभेदों में से स्वरूपावतार माने जायँ? तो भगवान् के कौन से स्वरूप के अवतार मानने चाहिये? क्योंकि भगवान् तो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन चार स्वरूपों से युक्त हैं जो कि चतुर्व्यूह कहलाते हैं।

उत्तर- इन चारों स्वरूपों में से 'ऐतिह्यतत्वराद्धान्त' के-

आद्याचार्याऽनिरुद्धस्य त्रिधा स्थितिरिति श्रुता।
आद्याचार्यो हि निम्बार्कोऽनिरुद्धः सिद्ध इत्यपि॥

इस वचन से अनिरुद्ध स्वरूप के अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य हैं, यह मानना होगा, क्योंकि सत्वगुण के नियन्ता होने से वासुदेव स्वरूप से भगवान् पालन करते हैं और रजोगुण के नियन्ता होने के कारण प्रद्युम्न स्वरूप से भगवान् जगत् की उत्पत्ति करते हैं और तमोगुण के नियन्ता होने से संकर्षण स्वरूप से भगवान् जगत् का संहार करते हैं। इस आशय को 'नारदपञ्चरात्र' में स्पष्ट किया है, प्रमाणार्थ वहाँ के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते है।

वासुदेवस्य भूतान्तर्यामिनः पालनं स्फुटम्।
वासुदेवाद्धि भूतानां, पालनं वहुधेरितम्॥ १॥
प्रद्युम्नस्यैव कामत्वात् पुरुषस्य प्रवर्तिनः।
प्रवृत्तायां हि मायायां सर्गगर्भानुधारणम्॥ २॥
प्रद्युम्नस्यैव सर्गेष्वधिकारित्वं सुसाधितम्।
वृत्तेरहंकृतेर्नेताऽहंममते प्रचोदयन्॥ ३॥
संहृत्य देहगेहाभ्यां विलीयम् भगवत्पदे।
कुर्वन् संकर्षणो ज्ञानादात्यन्तिकलयं सताम्॥ ४॥
मुखाग्निना दहन् सर्वं करोति प्रलयं प्रभुः।

भाव यह है कि, सम्पूर्ण भूत प्राणियों के अन्तर्यामी श्रीवासुदेव से ही जगत् का प्रतिपालन होता है, क्योंकि अनेक स्थलों में इसकी निर्धारणा शास्त्र में हो चुकी है। कामरूप और प्रवर्तक होने के कारण

प्रद्युम्न द्वारा ही (माया) प्रकृति में सृष्टि का बीजारोपण होता है। अतः सर्वाधिकार स्वरूप प्रद्युम्न का ही है॥२॥ अहंकार के नेता और अहंता ममता के प्रेरक सङ्कर्षण ही (चतुर्विध) प्रलय करते हैं अर्थात् ज्ञान प्रदान कर देह गेह आदि से ममत्व छुड़ाकर तो सज्जनों की आत्यन्तिक प्रलय (मुक्ति) करते हैं और अपनी मुख ज्वाला से जलाकर महाप्रलय करते हैं। इन दोनों प्रलयों के अन्तर्गत ही नित्य और नैमित्तिक प्रलय भी जानने चाहिये। उनके भी कर्ता सङ्कर्षण ही हैं॥३॥४॥

इस प्रकार तीन स्वरूपों के व्यापारों को बतलाकर चतुर्थ स्वरूप के व्यापार का भी श्रीनारद पञ्चरात्र में निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया है।

अनिरुद्धो मनो नेता मोक्षोपायं श्रुतिं पराम्।
मनसोत्पादयित्वाऽतो मोक्षयति सतः स्वयम्॥१॥
न वै निरुद्ध्यते कैश्चित् सत्त्वादिभिरुपाधिभिः।

अर्थात् मन के नेता होने के कारण, मन के द्वारा मोक्षोपायभूत पराश्रुति को प्रकट कर भगवान् स्वयं ही अनिरुद्ध रूप से सज्जन भक्तों को मुक्ति प्रदान करते हैं। और स्वयं माया के किसी भी सत्त्वादि गुण से अवरुद्ध (अवलिप्त) नहीं होते।

निरुपाधिस्त्वगुणतो ह्यनिरुद्ध इति स्मृतः।
आद्याचार्योऽनिरुद्धस्तु निर्गुणैतिह्यमोक्षकृत्॥५॥

अतएव गुणातीत होने से ही अनिरुद्ध स्वरूप का निरुपाधि एवं निर्गुण और तुरीय आदि नामों से शास्त्रों में वर्णन किया है और इसी स्वरूप को शास्त्र ने आद्याचार्य माना है। श्रीनारद पञ्चरात्र के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह आशय प्रकट किया गया है, परन्तु विस्तार होने के कारण अधिक न लिखकर यहाँ केवल एक पद्मपुराण का उदाहरण लिखकर ही पूर्ण कर देना उचित समझते हैं।

यस्य हंसावतारत्वाद्धंसजातीयजन्मना।
अनिरुद्धः सर्वजीवे हृषीकेशो मनस्पतिः॥१॥
निरुपाधिः प्रियो हंसोऽक्षरः सर्वनियोजकः।
अक्षरत्वेनैव सर्व-जीवत्वेन तथा स्वयम्॥२॥
सर्वनियोजकत्वेन ह्याद्याचार्यत्वमीरितम् ॥

(पद्मपुराण)

भावार्थः-अक्षर होने से एवं सर्वजीवों के नियोजक होने से जिसको सर्वनियोजक और अक्षर कहते हैं, और सम्पूर्ण जीवों के केन्द्र होने से जिसको सर्वजीव कहते हैं, मन के अधिष्ठाता होने से हृषीकेश, और निरूपाधि होने से अनिरुद्ध, एवं हंसावतार होने से हंस और प्रिय कहते हैं, उसी को आद्याचार्य कहते हैं।

कर्मणा मोक्षरूपेण, निम्बार्क इति विश्रुतः।

(भविष्य पुराण)

अर्थात्-पुरुषार्थ (मोक्ष) की वर्षा करने वाले अर्थात् शरणागतों को अभयपद प्रदान करने वाले होने पर भी स्वयं भगवत् सेवा को अंगीकार करने तथा मोक्ष के अनुकूल कर्म (निष्काम कर्म) करने से इस अवतार विग्रह की श्रीनिम्बार्क यह संज्ञा संसार में प्रसिद्ध है। उपरोक्त प्रमाणों से श्रीहंस और श्रीनिम्बार्क दोनों ही आचार्य-भगवान् के तुरीय (अनिरुद्ध) स्वरूप के अवतार सिद्ध हैं।

वामनपुराण में तो इस विषय को परिपूर्ण रूप से निश्चय कर दिया है कि श्रीनिम्बार्काचार्य साक्षात् भगवान् के ही अवतार हैं।

★ नारायणाश्रमे जातः श्रीनिम्बार्कस्वरूपतः।
अवतीर्यकलौ सद्यो लोकत्राणविधौ हरिः॥

★ मुद्रित वामनपुराण में यह अध्याय नहीं मिल सका है, किन्तु "श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधिपति श्री श्रीजी महाराज की बड़ी "श्रीनिकुंज" वृन्दावन के प्राचीन पुस्तकालय में एक बड़े जीर्ण खुले पत्रे में ३१ श्लोकों का यह एक ही

अगस्त्यस्याश्रमे जातो भगवान् भूतभावनः।
वदर्य्याश्रमके धामे कर्णकस्य शुभे कृतौ॥
दशमाशैरिरावत्यां बभूव सुतमुत्तमम्।
कार्तिकस्य सिते पक्षे पूर्णिमा वृषगे विधौ॥
कृत्तिकाऋक्षसहिते उच्चस्थे ग्रहपञ्चके।
मेषलग्ने जनिं प्राप्तः पुष्पवृष्टिसमाकुले॥
आविरासीद्धरिः प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।
श्रीनिम्बार्क आचार्यो हरेरंशः सनातनः॥
तिलकं धौतवस्त्रञ्च शिखां सूत्रं कमण्डलुम्।
आचार्य आसीद्गूढात्मा पञ्चमुद्राधारो द्विजः॥

(वामनपुराण अ० ३२ श्लोक १२ से १७ पर्यन्त)

अध्याय प्राप्त हुआ है। इसके अन्त में "इति श्रीवामन–पुराणे वलि–वामन संवादे श्रीनिम्बार्क प्रादुर्भावनाभ द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॐ तत्सदिति" यह लिखा हुआ है। इस पत्र का सन्दर्भ मुद्रित वामन पुराण में नहीं होने पर भी सर्वथा प्रमाणित ही प्रतीत होता है, क्योंकि श्रीमद्भागवत के १२ वें स्कन्ध की पुराण सूची में वामनपुराण की श्लोक संख्या १०,००० दश हजार है और मुद्रित वामन पुराण ६–७ हजार श्लोकों के लगभग ही है, जो कि ९४–९५ अध्याय मात्र छपा हुआ है। इस मुद्रित वामनपुराण के ९४ वे अध्याय में भी श्रीसुदर्शन चक्रराज की लीला का कुछ वर्णन आया है, जो कि बलि राजा ने अपनी रानी विन्ध्यावली के ज्ञात कराने पर शान्ति के निमित्त श्रीसुदर्शन–चक्रराज का पूजन कर स्तुति की है। इस प्रसंग को हम "श्रीनिम्बार्क विक्रान्ति" के श्लोक ६२ की टीका में पहिले लिख चुके हैं। सम्भव है वामनपुराण के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दो विभागों में से पूर्वार्द्ध छप सका हो, और उत्तरार्द्ध अनुपलब्धि आदि कारणों से नहीं छप सका हो, क्योंकि अभी तक और भी कई एक पुराण, प्रदर्शित संख्या के अनुसार मुद्रित नहीं हो सके हैं। अथवा वृहद्वामनपुराण में यह प्रसंग हो, और लेखक "इति" लिखते समय "वृहत्" शब्द को न लिख सका हो। यह तभी निश्चित हो सकता है जबकि भारतीय प्राचीन आर्षग्रन्थरत्न पूर्णतया उपलब्ध हो सकें। अस्तु।

(अनुवादक)

इन श्लोकों में रेखाकिंत पदों में श्रीनिम्बार्क भगवान् को साक्षात् भूतभावन परमात्मा का ही अवतार कहा है, और सभी भाव सरल हैं। यह श्रीनिम्बार्क–भगवान् का प्रादुर्भाव समय भविष्यपुराण आदि के सन्दर्भों से बराबर मिल रहा है। श्लोकों के सरल होने से पूर्ण पदार्थ लिखना आवश्यक नहीं, अतः दिग्दर्शन मात्र करा दिया है।

शंका–यदि श्रीनिम्बार्काचार्य भगवान् के तूर्य (अनिरुद्ध स्वरूप के अवतार माने जायँ, तो फिर चक्रराज–श्रीसुदर्शन के अवतार बतलाने वाले वाक्यों की संगति कैसे लग सकती है?

उत्तर–उन वाक्यों की भी संगति अच्छी प्रकार से लग सकती है जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी को चक्रराज–श्रीसुदर्शन का अवतार बतला रहे हैं। आशय यह है कि, किसी कल्प में श्रीभगवान् के तूर्य (अनिरुद्ध) स्वरूप का अवतार श्रीनिम्बार्क रूप में होता है और किसी कल्प में श्रीसुदर्शन, भी–

सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्यसमप्रभ!
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय॥

इस भगवदीय आज्ञानुसार अवतार धर श्रीनिम्बार्क रूप से प्रकट होते हैं। अतः श्रीनिम्बार्क भगवान् के अनिरुद्धावतार एवं श्रीसुदर्शनावतार होने में कोई विरोध नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, यह भगवदीय चतुर्व्यूह हैं उसी प्रकार भगवान् के नित्य पार्षदों का भी चतुर्व्यूह है जोकि उन्हीं वासुदेवादिकों का ही एक स्वरूप है। इस आशय को श्रीनारद–पञ्चरात्र में अच्छी प्रकार से सुलझा दिया है। वह आगे प्रकट किया जाता है।

शङ्खः साक्षाद्वासुदेवो गदा सङ्कर्षणः स्वयम्।
वभूव पद्मं प्रद्युम्नोऽनिरुद्धस्तु सुदर्शनः॥

(श्रीनारद पञ्चरात्र)

अर्थात् वासुदेव ही शंख के रूप में हुए और साक्षात् सङ्कर्षण ही गदा बने, एवं स्वयं प्रद्युम्न पद्म और स्वयं अनिरुद्ध ही सुदर्शन रूप बने हैं। इसलिये अनिरुद्ध और सुदर्शन की एकता होने से दोनों ही प्रकार के शास्त्रीय वाक्य एक ही तात्पर्य के द्योतक मानने चाहियें। कारण श्रीनिम्बार्क भगवान् यदि अनिरुद्धावतार हैं तो भगवान् के ही अवतार हैं और सुदर्शन के अवतार हैं तो भी भगवान् के ही अवतार हुए। जिस कल्प में सुदर्शन चक्रराज का श्रीनिम्बार्कावतार हुआ है, उसकी आख्यायिका नैमिषखण्ड के वचनों के अनुसार यहाँ उद्धृत की जाती है।

कल्पत्रयादपि प्राक् च विष्णुक्षेत्रे द्विजा हरिम्।
त्रेतायुग गतप्राये: यजन्तोऽसुरकुण्ठिता:॥
मेरुमूर्द्धन्यपर्य्यन्ते ब्रह्माणं शरणं ययु:।
तेन ध्यातो हरिश्चक्रमर्पयन्मुनिरक्षणे॥
तदाविरासीत् स्वांतस्थं मुनिरूपं दधार स:।

अर्थात् तीन कल्पों से भी पहिले के त्रेतायुग के व्यतीत होने पर विष्णुक्षेत्र (नैमिषारण्य) में भगवान् का यजन करने वाले ब्राह्मण ऋषियों ने यज्ञादि कर्मों का आरम्भ किया, किन्तु राक्षसों ने उनके उस सत्कर्म में प्रबल बाधा पहुंचाई। अत: उन यज्ञादि करने वाले ऋषियों ने सुमेरुपर्वत के शिखर पर जाकर ब्रह्माजी से अपना दु:ख प्रकट किया। उनकी दु:खमयी वेदना से व्यथित हो ब्रह्माजी ने अपने उपास्य श्रीविष्णु भगवान् का ध्यान किया, तब भगवान् ने उनकी व्यथा को दूर करने के लिये, चक्रराज श्रीसुदर्शन को आज्ञा दी कि तुम जाकर इन दीन-हीन ऋषिजनों की विपत्ति को मिटाओ? अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही चक्रराज ने शीघ्र ही मुनि का रूप धारण किया और पृथ्वी तल पर आकर उन ऋषियों के यज्ञ की समाप्ति करवाई, जिससे उस अवतार का नाम 'हविर्धान' प्रसिद्ध हुआ, कारण कि जो ऋषिजनों द्वारा हवि अग्नि में अर्पण की जाती थी, उसको दुष्ट राक्षस बीच में ही ले लेते थे,अग्नि के सन्निकट एक कण भी नहीं

पहुँच सकती थी, अतः श्रीसुदर्शनावतार ने उन राक्षसों से बचाकर स्वयं उस हवि को धारण किया और फिर अग्निदेव को उसका प्रदान किया, इस प्रकार हविस् को धारण करने से श्रीसुदर्शनावतार की उस कल्प में हविर्धान संज्ञा हुई, यही तात्पर्य "सम्मोहनतन्त्र" में प्रकट किया गया है।

★ हविर्धानाभिधानस्तु चक्रमासीन्महामुनिः।
सोऽतप्यत तपस्तीव्रं निम्बक्वाथैकभोजनः॥
आशुसिद्धिकरं मन्त्रं विंशत्यर्णं च जप्तवान्।
अनन्तरं मारबीजाद्यग्न्यारूढं तदेव तु।
दध्यौ वृन्दावने रम्ये माधवी मण्डपे प्रभुः॥

अर्थात् चक्रराज श्रीसुदर्शन ने महामुनि हविर्धान के रूप से पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हो केवल निम्ब के क्वाथ का ही भोजन करते हुये बड़ी कठिन तपश्चर्या की और बीस अक्षरों वाले मन्त्र का काम बीज और अग्निबीज के सहित जप किया, जो कि शीघ्रातिशीघ्र ही फल सिद्धि प्रदान करने वाला है। यह सभी कृत्य सुरम्य श्रीवृन्दावनधाम के माधवी (सेवती) लताओं से सुसज्जित मण्डप के अन्दर स्थित होकर किये। इस प्रकार से लोक के अन्दर वैष्णव धर्म की समुन्नति कर अपने स्वरूप को नैमिषारण्य में स्थापित कर पूर्ववत् सुदर्शन स्वरूप बन गये। ऐसे जब-जब भागवत धर्म की क्षति होने पर आई तब-तब श्रीसुदर्शन चक्रराज ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार अवतार धारण कर धर्म की रक्षा की।

कल्प भेद से एवं कार्य भेद से अवतीर्ण होने वाले भगवद्विग्रहों में नाम, रूप, चरित्र आदि का कुछ भेद अवश्य हो ही जाता है, यही कारण है कि श्रीसुदर्शनावतार के भी समय, प्रदेश, माता, पिता आदि

★ ये श्लोक मुद्रित पद्मपुराण पाताल खण्ड के वृन्दावन महात्म्य में भी पाये जाते हैं, किन्तु इन दोनों पाठों के अन्दर कहीं-कहीं शब्दों में विभिन्नता है।

के दो तीन प्रभेद शास्त्रों में तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों में दृष्टिगत होते हैं, जैसे कि एक कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को तैलंगदेश में अरुणऋषि के गृह जयन्ती देवी की कुक्षि से प्रकट होना, दूसरा नैमिषारण्य में, और तीसरा ब्रज में गोवर्धन के निकट निम्बग्रामस्थ जगन्नाथ द्विजराज के गृह सरस्वती देवी की कुक्षि से। यद्यपि वर्तमान कालीन कुछ साम्प्रदायिक विद्वान् उपरोक्त प्रादुर्भाव विषयक तृतीय भेद में उतनी श्रद्धा नहीं रखते, जितनी कि पहिले में रखते हैं, परन्तु इसको सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कह सकते, कारण श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने निज संगृहीत **"औदुम्बर संहिता"** में स्वयं ही कहा है कि :-

गोवर्द्धनसमीपे तु निम्बग्रामे द्विजोत्तम ?।
जगन्नाथस्य पत्न्याञ्च जयन्त्यां प्रथमे युगे॥
वैखाखे शुक्लपक्षे च तृतीयायां तिथौ पुनः।
साक्षात्सुदर्शनो लोके निम्बादित्यो वभूव ह॥

आचार्यचरित्रोद्धृत (औदुम्बर संहिता अमुद्रित)

श्लोकों का आशय सरल है, अतः उपरोक्त संक्षिप्त अर्थ ही पर्याप्त है। इस प्रकार कल्प भेद से उक्त सभी वचनों का समन्वय हो जाता है। हाँ, किस कल्प में कौन ने श्रीनिम्बार्क रूप से अवतार लिया और उनके द्वारा कौन-कौन से विशेष कार्य हुए, इसका निर्णय कठिनता से हो सकता है क्योंकि, साम्प्रदायिक ग्रन्थकारों ने सभी कल्पों के निम्बार्कावतार विषयक चरित्रों का सम्मिश्रण रूप से संग्रह किया है। अतः विशेष विवेचना के लिये आचार्य चरित्र प्रकाशित किया जायगा, जिसमें कि समन्वय किया गया है। उस चरित्र के अवलोकन से इस कल्प के द्वापर में प्रादुर्भूत होने वाले श्रीनिम्बार्काचार्यजी के समय का भी संदेह निवृत्त हो सकेगा। जो संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ एवं युक्ति और समालोचना के उत्सुक हों, वे सज्जन इसी ग्रन्थ के आदि में दी हुई समय समीक्षा को पढ़ें।

श्रीद्वारकां यत्र परंपरास्थं वुद्ध्वा वानुकारं प्रणमामि तं त्वम्।
श्रीकृष्णशिष्यैः सनकादिकार्यैर्विज्ञानवृद्धैः सुसदाभचन्द्रैः ॥१०३॥
संस्थापित 'स्तप्त' सुसंस्क्रियौघस्संरक्षितस्ताननुवर्तमानैः।
श्रीनारदाद्यैर्हरिभक्तिरक्तैः संस्कारविस्तारकरैः स्वकाले ॥१०४॥

यत्र (जहाँ) सुसदाभचन्द्रैः श्रेष्ठ सत्ख्याती की आभा के आह्लादक विज्ञान वृद्धैः (सर्वोच्च विज्ञानी) श्रीकृष्णशिष्यैः (हंसावतारी श्रीकृष्णचन्द्र के शिष्य) सनकादिकार्यैः (श्री सनकादिक आचार्यवरों के द्वारा) तप्तसुसंस्क्रियौघः (तप्त संस्कार रूपी कृत्य) संस्थापितः (स्थापित किया गया)।

तान् (उन सनकादिकों के) अनुवर्तमानैः (अनुयायी) श्रीहरिभक्तैः (भगवद्भक्त) संस्कारविस्तारकरैः (संस्कारों को विस्तृत बनाने वाले) श्रीनारदाद्यैः (श्रीनारदादिक महर्षियों द्वारा) संरक्षितः (रक्षित किये हुए) तं (उस तप्त संस्कार कार्य को) परंपरास्थं (परम्परागत) वुद्ध्वा (समझकर) स्वकाले (अपने समय में) अनुकारं (अनुसरण करने वाले) त्वां (तुमको) प्रणमामि (प्रणाम करता हूँ) ॥१०३॥१०४॥

जहाँ पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के शिष्य श्रेष्ठ सत्ख्याति के आह्लादक अतएव विज्ञान वृद्ध अथवा विद्यमान श्रेष्ट चन्द्रमा की आभा के समान श्रीसनकादिक महर्षियों ने तप्तमुद्रा-धारण रूपी संस्कार की स्थापना की, और सत्संस्कारों की अभिवृद्धि करने वाले भगद्भक्ति में सदा अनुरक्त श्रीनारदादिक महर्षियों ने अपने समय में उस संस्कार की रक्षा की है, उसी द्वारिका प्रदेश को आप पधारे और वहाँ पर 'परम्परा से समागत' 'तप्त-संस्कार' रूपी कर्म का अनुकरण करने वाले आपको में बारम्बार प्रणाम करता हूँ॥१०३॥१०४॥

पाखण्डरुद्धन्तु कलौ प्रवाह्य, श्रीकृष्णसेवौघमिव स्वयन्तं।
वेणद्विखण्डादिनिरस्तृमुख्यः श्रीकृष्णभक्तिञ्च ततः प्रतस्थे ॥१०५॥
वेणद्विखण्डान्तविडम्बकाय तस्मै नमस्तेऽस्तु सदध्वभर्त्रे।

ततः (फिर) पाखण्डवादों से रुके हुए) इव (समान) तं (उस) श्रीकृष्णसेवौघम् (श्रीकृष्णचन्द्र की भक्ति के प्रवाह को) तु (पुनः) कलौ (कलियुग में) प्रवाह्य (प्रवाहित कर) च (और) वेणद्विखण्डादिनिरस्तृमुख्यः (वेण के शरीर को मथन करने पर आदि में उत्पन्न होने वालों को निरस्त करने वालों में मुख्य) "आप" श्रीकृष्णभक्तिं (भगवद्भक्ति को) स्वयं (अपने आप) प्रतस्थे (प्राप्त हुए) तस्मै (उस) वेणद्विखण्डान्तविडम्बकाय (वेण के शरीर को दुवारा मथन करने पर उत्पन्न होने वाले पृथु का अनुकरण करने वाले) सदध्वभर्त्रे (सत्पथ के पोषक) ते (आपके लिये) नमः (नमस्कार है) ॥१०५॥१०६॥

राजाओं के कुल में एक हरि विमुख एवं जघन्य कर्म करने वाले वेण को जब ऋषियों ने अत्यन्त दुराचार में रत देखा, तो उसके निकट जाकर सभी ऋषियों ने उसको सत्पथ के अनुसार आचरण करने के लिये कहा, परन्तु उसने ऋषियों की एक भी बात नहीं मानी और पहिले से भी अधिकतर दुष्कर्मों में प्रवृत्त हुआ, अतः ऋषियों ने अपने तपोबल से केवल एक "हूँ" शब्द का उच्चारण कर उस राजा को मार दिया, किन्तु राज्य की व्यवस्था बिगड़ती हुई देखकर फिर उन्हीं ऋषियों ने उसके पड़े हुए देह का मथन किया, जिससे सर्व प्रथम कोल्ह भील, निषाद आदि के वंश का समुत्पादक एक पुरुष काले वर्ण वाला प्रकट हुआ, जिसके पाखण्डवादी वंशजों ने श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की अर्चा–पूजा स्मरण कीर्तन आदि सेवा समूह को रोका, उन धर्म घातकों को निरास करने वालों में आपही मुख्य हैं, अतः कलियुग में पाखण्डियों के द्वारा भक्ति का कुछ तिरोभाव समझकर आपने स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् की भक्ति का अनुसरण किया, जिससे कि आपके तेजः प्रभाव से वे भक्ति विरोधी असुरजन भी फिर से भगवान् की भक्ति में संलग्न होकर श्रीसर्वेश्वर की चरण सेवा करने लगे ॥१०५॥१०६॥

त्वं म्लेच्छवद्वृत्तिकृतो निहत्य कल्कीव कल्यन्त इहेष्टिरोपी ॥ १०६ ॥
सद्धर्मनिर्णिक्तजनस्थ आस्से तस्मै नमः कल्किवदार्त्तिहर्त्रे ।

कल्यन्ते (कलियुग के अन्त में) म्लेच्छवद्वृत्तिकृतः (म्लेच्छों के समान आचरण करने वालों को) निहत्य (मारकर) इह (जगत् में) इष्टिरोपी वैदिक यज्ञादि कर्मों की पुनः स्थापना करने वाले कल्की (भगवान् कल्की अवतार) इव (सदृश) त्वं (आप) सद्धर्मनिर्णिक्तजनस्थः (वैदिक धर्म से पुनीत बने हुए सज्जनों के अन्दर स्थित) आस्से (रहते हो) "अतः" कल्कीवत् (कल्की अवतार के सदृश) आर्तिहर्त्रे (धार्मिक आपदाओं को मिटाने वाले) तस्मै (तुम्हारे लिये) नमः (नमस्कार है) ॥१०६ ॥१०७ ॥

हे धर्म पर आने वाले आघातों को मिटाने वाले आचार्य प्रभो! कलियुग के अन्त में धर्मघातक दुराचारी दुष्टों को मारकर संसार में फिर से धर्म की विजय वैजन्ती फहराते हुए एवं इस संसार में पुनः यज्ञादि सत्कर्मों का प्रचार करने वाले भगवान् कल्की अवतार के समान आप वैदिक धर्म से पुनीत चित्त वाले सज्जनों के अन्तःकरणों में सदा निवास करते रहते हो और दुष्टजनों को भय दिखलाकर सद्धर्म में प्रवृत्त करते रहते हो। अतः कल्की भगवान् के सदृश धर्म पर आये हुए सङ्कटों को हरने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१०६ ॥१०७ ॥

कर्माभिमानं व्यतिसार्य्य साक्षादात्मीयमाधातुमजो वलर्वा ॥ १०७ ॥
जैनोत्सवं वामन ऐर्यथेष्टिं पत्स्पर्शमात्रेण पवित्रयिष्यन् ।
सद्धर्ममर्यादविधायकस्त्वं तद्रोघपाखण्डकुठारपादः ॥ १०८ ॥

यथा (जैसे) अजः (जन्मादि छहों भाव विकारों से निर्मुक्त) वामनः (भगवान् वामन) कर्माभिमानं (कर्मों की आसक्ति को) व्यतिसार्य्य (दूरकर) साक्षात् (अपने) आत्मीयं (आत्मज्ञान को) आधातुं (धारण कराने के लिये) पत्स्पर्शमात्रेण (चरणकमलों के स्पर्श मात्र से) पवित्रयिष्यन् (पुनीत बनाते हुए) वलेः (राजा बलि के) इष्टिं (यज्ञ में) 'पधारे थे' उसी प्रकार सद्धर्ममर्यादविधायकः

(अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय की मर्यादा को स्थापित करने वाले) तद्रोधपाखण्ड कुठारपाद: (सद्धर्भ के अवरोध करने वाले पाखण्ड मतों को छेदन करने वाले) त्वं (आप) जैनोत्सवं (जैनमतावलम्बियों के किसी विशिष्ट उत्सव में) ऐ: (पधारे) ॥१०७॥१०८॥

हे प्रभो! जैसे जन्मादिक छहों भाव विकारों से निर्मुक्त रहते हुए भी माता अदिति के गर्भ से प्रकट होकर श्रीवामन भगवान् ने यज्ञादिक कर्मों को करने वाले भक्तों के चित्त में से उनकी फल विषयिणी आसक्ति को दूर हटाकर अपने आत्मज्ञान एवं साक्षात्कार कराने के लिये एवं चरण-कमलों के स्पर्श मात्र से पुनीत बनाते हुए राजा बलि के यज्ञ में पर्दापण किया था, उसी प्रकार अनादिवैदिक सत्सम्प्रदाय की मर्यादा को सुदृढ़ बना संस्थापित करने वाले एवं इस पुनीत वैदिक-धर्म के अवरोध करने वाले पाखण्ड मता का छेदन करने वाले आपने एक जैन मताबलम्बियों के विशिष्ट महोत्सव में पदार्पण किया॥१०७॥

हे प्रभो! आप सद्धर्म अर्थात् सनातन वैष्णव धर्म की मर्यादा को सब प्रकार से पालन करने वाले हैं। अतएव सनातन वैष्णवधर्म की मर्यादा के विरुद्ध पाखण्ड-पूर्ण मत मतान्तरों के लिये आपके चरण-कमल बड़े तीक्ष्ण कुठार के सदृश हैं, अर्थात् जहाँ पर आपके चरणों की प्रभा पहुँचती है वहाँ पर किसी प्रकार के तिमिरमय पाखण्ड मत नहीं पहुँच सकते। यद्यपि कुठार वस्तु को छिन्न-भिन्न कर देता है, अर्थात् जिस किसी भी काष्ठादि वस्तु पर कुठार का आघात होता है, वह वस्तु प्राय: नष्ट ही हो जाती है, किन्तु आपके चरणों में ऐसी विशेषता है कि-जहाँ पर जिस वस्तु से स्पर्श हो उस वस्तु के अस्तित्व को न मिटाकर केवल उसके दुर्गुणों का हरण (नाश) और उसमें सद्गुणों का आविर्भाव कर उस वस्तु को पुनीत बना देते हैं। जैसे कि, वेदनिन्दक विधर्मीजनों के उत्सव को श्रीचरणों ने स्पर्श मात्र से यज्ञ की भाँति पवित्र बना दिया था॥१०८॥

श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने जिस प्रकार विधर्मियों के उत्सव को पवित्र बनाया था, उसी आख्यायिका को १० श्लोकों से वर्णन करते हैं।

नीरान्निषिद्धस्तु भुवं तदर्थी संयाचयित्वा नियमेन काञ्चित्॥
गण्डं हि निर्देशमिषेण तत्रोच्चिक्षेपिथां गुष्टनखेन चांघ्रेः॥१०९॥
स्पर्शेन शक्तिं शमलोपहंत्रीं सञ्चारयन्नेव नदीं महार्हाम्।
निष्कासयामासिथ तीर्थदृष्टि-र्भूरिक्रमो ह्यण्डकटाहभेत्ता॥११०॥
विष्णुर्यथा स्वर्गनिनादगङ्गां तस्मै नमो लोकपवित्रकर्त्रे।

तदर्थी (जल की चाहना वाले) 'आप' तु (जब) नीरात् (जल से) निषिद्धः (रोके गये) 'तब' नियमेन (नियमानुसार) काञ्चित् (कुछ) भुवं (पृथ्वी को) सं याचयित्वा (याचना कर) तत्र (वहाँ) निर्देशमिषेण (संकेत मात्र को निमित्त कर) अंघ्रेः (चरणकमल के) अंगुष्ठनखेन (अँगूठे के नख से) गण्डम् (किसी एक निशान को) उच्चिक्षेपिथ (उखाड़ा) 'और' भूरिक्रमः (विशिष्ट पराक्रम युक्त) तीर्थदृष्टिः (गुप्त तीर्थों के द्रष्टा) अण्डकटाहभेत्ता (ब्रह्माण्ड को भेदन करने वाले) विष्णुः (वामन भगवान् ने) यथा (जैसे) स्वर्गनिनादगङ्गां (आकाश गङ्गा) 'प्रकट की वैसे' स्पर्शेन (स्पर्श से) एव (ही) शमलोपहन्त्रीं (पापों का नाश करने वाली) शक्तिं (शक्ति को) सञ्चारयिष्यन् (संचारित करते हुये) महार्हां (महापूज्य) नदीं (नदी) निष्कासययामासिथ (निकाल दी) तस्मै (उस) लोकपवित्रकर्त्रे (संसार को पवित्र बनाने वाले) 'आपको' नमः (नमस्कार है) ॥११०॥१११॥

एक समय वेद विरोधी मतावलम्बियों ने अपने समूह को एकत्रित कर एक विशाल महोत्सव करना आरम्भ किया। उसके अन्दर पहुँचने से बहुत से पथभ्रष्ट प्राणियों का हित होना जानकर आप वहाँ पधारे और उत्सव के निमित्त बनाये हुए उस सरावेर में से कुछ जल लेने के लिये संकेत किया, जहाँ पर कि, उत्सव में सम्मिलित होने वाले प्रायः सभी विरुद्ध मतावलम्बी एकत्रित हो रहे थे, उस समय उन

सभी ने आपको पंच संस्कारादि वैष्णव चिह्नों से युक्त देखकर स्वाभाविक द्वेष दृष्टि से जल लेने के लिये रोका, और हो हल्ला मचाना आरम्भ किया, जब इस प्रकार उनकी पूर्ण द्वेषाग्नि भरी क्रूरता देखी, तब शान्तिमय वाणी से जैसे बलिराजा से वामन ने तीन पैंड़ पृथ्वी के लिये याचना की थी, उसी प्रकार आपने कुछ पृथ्वी के लिये उनसे कहा कि, यदि तुम जल नहीं देना चाहते हो तो कोई क्षति नहीं, क्योंकि, हमें तुम्हारे जल की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु खड़े तो रहने दोगे? हमारे यहाँ खड़े रहने में भी क्या तुम्हारे किसी प्रकार की अड़चन है? इस प्रकार उन्होंने कानों से आपकी आश्चर्ययुक्त गम्भीर वाणी सुनी और नेत्रों से आपकी अद्भुत मूर्त्ति का दर्शन किया, मन से आप की प्रभुता पर कुछ विचार करने लगे, इधर आपने अपने चरणकमल के अँगूठे के नख से पृथ्वी का स्पर्श किया और नख से कुछ मिट्टी ऊपर को उठाई। बस, फिर तो क्या था, जैसे ब्रह्माण्ड को भेदन करने वाले एवं तीर्थ-दृष्टि श्रीविष्णु भगवान् के चरणों से आकाश गंगा का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार जहाँ "आपके चरण नख का स्पर्श हुआ, उसी स्थल से पापों को नष्ट करने वाली एक महानदी प्रकट होकर वह चली।" ऐसे पतित पावन नदी को प्रकट कर संसारी जीवों को पवित्र करने वाले आपके चरण-कमलों के लिये मेरा नमस्कार है॥१०९॥११०॥

पाखण्डखण्डौघविडम्बकञ्च देवर्षिवर्यस्य गुरोर्हिताय।
कृष्णान्यमुच्चाट्य तदोघमग्नमूर्द्ध्वादधस्तात्स्वयमद्रिसानुः।
शिष्यैरुपास्यांघ्रिकञ्जोऽध्यतिष्ठः पाखण्डविध्वस्ति सुहृष्टचेताः।
विष्णुर्वलिं वा भगवानदित्यास्तस्मै नमो वामनवृत्तधर्त्रे।

गुरोः (गुरु) देवर्षिवर्य्यस्य (श्रीनारदजी के) हिताय (हितार्थ) तदा (जलमय ही जलमय हो जाने पर) ऊर्द्ध्वात् (ऊपर से) अधस्तात् (नीचे से) ओघमग्नं (वेग में डूबे हुए) कृष्णान्यम् (कृष्ण भक्तों से अतिरिक्त दल को) उच्चाट्य (इधर उधर डुलाकर) शिष्यैः (शिष्यों

के द्वारा) उपास्याङ्घ्रिकञ्ज: (उपासनीय चरण-कमल) पाखण्ड-विध्वस्तिसुहृष्टचेता: (पाखण्डमार्ग को विध्वंस करने में प्रमुदित चित्त) स्वयं (आप) अद्रिसानु: (गिरि शिखिर समान) अध्यतिष्ठ: (स्थित हो गये) वा (जैसे कि) वलिं (वलि के प्रति) अदित्या: (अदिति के पुत्र) भगवान् (प्रभु) विष्णु: (वामन) तस्मै (उस) वामनवृत्तधर्त्रे (वामन भगवान् के चरित्र को धारण करने वाले) "आपको" नम: (नमस्कार है) ॥१११॥११२॥

निज गुरुदेव, देवर्षिवर्य, भगवान् श्रीनादजी की रुचि के अनुसार, भगवान् श्रीनन्दनन्दन की भक्ति के अतिरिक्त पाखण्डी पन्थों के समुदाय को बढ़ाने वाले उस विपक्षियों के संघ को, उसी नदी के प्रवाह में, ऊपर नीचे डुबाकर छिन्न-भिन्न कर दिया और पाखण्ड के विध्वंस करने में प्रसन्नचित्त, एवं शिष्यों के द्वारा उपासना करने योग्य चरणकमलों वाले, आप उसी नदी के ऊपर ऐसे दीखने लगे, मानों पर्वतराज का कोई ऊँचा शिखर स्थित है, अथवा जैसे वलि राजा का बन्धनकर विराट्स्वरूप में बढ़े हुए त्रिविक्रम विष्णुभगवान् आकाश में स्थित हो रहे हों, अत: वामन भगवान् की लीला का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१११॥११२॥

एकार्णवाभां चरणानुसक्तां स्पर्शाशया ते यमुनेव विष्णो: ॥११३॥
संरुद्धवेगां सरितं समूढां संग्रस्तजैनोत्सवधामसेनाम्।
उत्फाणयन्तीमिव दुग्धफेणं संशोषयामासिथ दृष्टिसिक्ताम्॥११४॥
कुम्भोद्भवो देव! यथा समुद्रं तस्मै नमस्ते घटजाभकाय।

देव! (हे देव!) विष्णो: (विष्णु भगवान् के) "चरणों के" स्पर्शाशया (स्पर्शकी इच्छ रखने वाली) यमुना (श्रीकालिन्दी) इव (समान) एकार्णवाभां (चारों ओर फैले हुए एक समुद्र के समान) संरुद्धवेगां (रुके हुए वेग वाली) समूढां (जड़त्वपूर्ण) सङ्ग्रस्तजैनोत्सवधामसेनाम् (जैनों के उत्सव और धाम एवं सेना को ग्रसी हुई) दुग्धफेणम् (दूध के ऊफान) इव (समान) उत्फाणयन्तीं (उफनती हुई) ते (आपके)

चरणाऽनुसक्ताम् (चरणों में अनुरक्त) दृष्टिसिक्ताम् (सौम्य दृष्टि से अभिषिक्त) सरितम् (नदी का) संशोषयामासिथ (आपने संशोषण किया) यथा (जैसे) कुम्भोद्भव: (कुम्भ से उत्पन्न होने वाले अगस्त्य ऋषि ने) समुद्रम् (समुद्र का) "संशोषण किया था" तस्मै (उस) घटजाभकाय: (अगस्त्य ऋषि की महिमा के समान महिमा वाले) ते (आपकी मूर्त्ति के लिये) नम: (नमस्कार है) ॥११३॥११४॥११५॥

हे देव! जिस प्रकार विष्णु भगवान् 'श्रीवसुदेवनन्दन' के चरण कमलों को स्पर्श करने के लिये श्रीयमुनाजी ने अपना प्रवाह बढ़ाया था, उसी प्रकार आपके चरण-कमल की नख-प्रभा से प्रकट होने वाली वह महानदी जैनों के उत्सव के स्थान और उनकी समस्त जन सेना को डुबोकर प्रलयकालीन समुद्र की भाँति भीषण वेग से बढ़ती हुई आपके चरणों को स्पर्श करने के लिये संतप्त दुग्ध की भाँति ऊपर को बढ़ी, उस समय जैसे अगस्त्य ऋषि ने समुद्र का संशोषण किया था, उसी प्रकार आपने उस जड़ता (जल) युक्त महानदी को अपनी सौम्य दृष्टि से अभिषिक्त कर उसके वेग का अवरोध किया, एवं जिस निमित्त से उसको प्रकट की थी, उसका कार्य हो जाने के कारण उसी क्षण उसका संशोषण कर लिया। अत: अगस्त्य की आभा को प्रकटित करने वाले आपके श्रीचरणों को मैं नमस्कार करता हूँ॥११३॥११४॥११५॥

कुत्रापि शिष्टै: समित: प्रपन्नै: सञ्जीवयामासिथ चावसन्नान्॥११५॥
संस्तुत्य कारुण्यदृशेव रुद्र: स्वध्वस्तदक्षादिशवान् प्रसन्न:।
कृष्णोऽहि खिन्नानहिमूर्च्छितान् वा श्रीराम आत्मीयनियम्यवर्गान्
देवाऽसुराणां च गुरू इवेशावात्मीयश: शिष्यसमूहवर्गान्।
तं त्वा प्रपद्ये मृतजीवनेशमज्ञान-सर्पाग्रविदष्टभाव॥११७॥

च (और) स्वध्वस्तदक्षादिशवान् (अपने गणों द्वारा मारे हुए दक्षादि मृतकों को) संस्तुत्य (स्तुति करके) प्रसन्न: (प्रसन्न हुये) रुद्र: (शंकर) इव (समान) शिष्टै: (सज्जन) प्रपन्नै: (शरणागतों के

द्वारा) शमितः (शन्ति प्राप्त) 'आप' कुत्राऽपि (जहाँ कहीं भी) अवसन्नान् (गिरे हुए मृतकों को) कारुण्यदशा (करुणा की दृष्टि से) संजीवयामासिथ (जिलाया) वा (जैसे कि) अहिमूर्च्छितान् (कालीनाग से मूर्च्छित) खिन्नान् (खेदपूर्ण जनों को) कृष्णः (श्रीकृष्णचन्द्र ने) च (और) आत्मीयनियम्यवर्गान् (अपने अनुचर बन्दर–भालुओं के समूहों को) श्रीरामः (श्रीरामचन्द्रजी ने) हि (एवं) देवाऽसुराणां (देवता और राक्षसों के) ईशौ (समर्थ) गुरू (वृहस्पति और शुक्र इन दोनों ने) आत्मीयशः (अपने–अपने) शिष्यसमूहवर्गान् (शिष्यों के यूथों को जिलाया था) तं (उस) मृतजीवनेशं (मृतकों को जीवन प्रदान करने वाले ईश) त्वां (आपके) प्रपद्ये (चरणों में आ गिरा हूँ) अज्ञानसर्पाग्रविदष्टम् (अज्ञानरूपी सर्प से डसे हुए) मा (मेरी) अव (रक्षा कीजिये) ॥११५ ॥११६ ॥११७ ॥

इस प्रकार नदी की प्रचण्ड धारा में पड़कर जैनों की बहुत सी सेना नष्ट–भ्रष्ट हो चुकी। उसमें जहाँ–तहाँ जो कुछ सैनिक जीवित रह सके थे, वे शिष्ट थे, अतः इस आश्चर्यमयी घटना से पूर्व भी उन्होंने आपसे द्वेषदृष्टि नहीं की थी, किन्तु समूह के अन्तर्गत होने के कारण उनको भी यह असह्य दुःख उठाना पड़ा, इसीलिये उनकी मृत्यु नहीं हुई थी, उन्होंने प्रार्थना की और 'पाहि–पाहि' कहकर आपके चरणों की शरण ली, अतएव उनकी प्रार्थना से संतुष्ट होकर आपने उन सभी मृतकों को फिर से जीवन प्रदान किया। जैसे कि भगवान् शंकर ने स्तुति करने पर प्रसन्न होकर अपने दल के द्वारा विध्वस्त किये हुए दक्षादिक मृतकों को जिलाया था तथा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कालीदह पर विषमिश्रित जलपान से मरे हुए गोपों को एवं भगवान् श्रीराम ने असुरों द्वारा मरे हुए बन्दर–भालुओं को तथा देवासुर–संग्राम में जैसे वृहस्पति ने देवों को तथा शुक्राचार्य ने राक्षसों को जिलाया था, उसी प्रकार मृतक प्राणियों को संजीवित बना देने वाले आपकी मैं शरण में आकर पड़ा हूँ। इसलिये हे देव! 'अज्ञानरूपी सर्प, से डसे हुए मुझ शरणागत को भी कृपाकर बचा लीजिये ॥११५ ॥११६ ॥११७ ॥

प्रस्थाप्य शिष्याँस्तु विधाय जैनान् संपाद्य देवर्षिरिव प्रपन्नान्।
सद्धर्मदोषेण विदग्धकाशान् संपन्नगङ्गस्त्वकरो कृतार्थान्॥११८॥
औवेर्यवंश्यः सरिता स्वकान् वा तस्मैनमश्चौर्ववदत्र कर्त्रे।

तु (पुनः) जैनान् (जैन पन्थावलम्बियों को) शिष्यान् (शिष्य) विधाय (बना) देवर्षिः (श्रीनारदजी के) इव (समान) प्रपन्नान् (प्रपत्ति धर्मानुगत) सम्पाद्य (बना) सम्पन्नगङ्गः (गंगादिक तीर्थों के ऐश्वर्य युक्त) औवेर्यवंश्यः (और्व कुल में प्रकट होने वाले) त्वं (आपने) सद्धर्मदोषेण (सनातन धर्म के अन्दर दोषबुद्धि रखने से) विदग्धकाशान् (निराश जैनियों को) सरिता (नदी के द्वारा) स्वकान् (अपने बनाकर) कृतार्थान् (कृतार्थ) अकरोः (बनाया) तस्मै (उस) और्ववत् (और्व के समान) चरित्रकर्त्रे (चरित्र करने वाले आपके लिये) नमः (नमस्कार है) ॥११८॥११९॥

जब मृतक तथा मूर्च्छित देह पुनः सजीव बन गये तब उन सभी सैनिकों ने आकर आपके चरणों में क्षमा–याचना की, और सन्मार्ग प्राप्ति के लिए अपना मनोरथ प्रकट कर दीक्षा ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की। तब गर्वादि दूषणों से रहित दीक्षा के अधिकारी जान, उन जैनों को, जो कि, पहिले सद्धर्म में दोष–दृष्टि रखने के कारण क्षुद्र पन्थों का अनुसरण करते थे, जिससे कि, उनकी की हुई आशायें प्रायः निष्फल ही होती रहती थीं, उनको वैष्णवी दीक्षा देकर शिष्य बना, देवर्षि वर्य भगवान् श्रीनारद की भाँति दया–दृष्टि कर प्रपन्न (शरणागत) बनाया और आप स्वयं परोपकार स्वरूप अपना प्रयोजन अर्थात् कर्तव्य कार्य कर, आगे के लिए प्रस्थान किया। हे भृगुकुलनन्दन! जैसे दुष्ट क्षत्रियों के द्वारा विनष्ट होते हुए अपने कुल के ऋषियों को बचाने के लिए भृगुवंशीय ऋषि पत्नी की जंघा में से सहसा आविर्भूत होने वाले भृगुवंशी और्व ने अपने तेज से समस्त दुष्ट क्षत्रियों को प्रकट होते ही अन्धे बना दिए थे, जिससे कि वे उन पर्वतों में भटभेड़ें खा–खाकर स्वतः ही विनष्ट होने लगे। अतः नष्ट होते हुए

भृगुवंशीय ऋषियों के प्राण बचे, उसी प्रकार नास्तिकों को असक्त बनाकर सद्धर्म को पुनः उन्नत बनाने वाले और्व के समान चरित्र वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥११८॥११९॥

इसी आशय को "श्रीगौरमुखाचार्यजी" ने भी स्वकृत श्रीनिम्बार्क-स्तव में स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। जैसे कि-

भगवते नमस्तुभ्यं निम्बादित्याय ते नमः।
जैनस्थानसमुद्धर्तुं जलस्पर्शनिषेधितः॥
चरणस्पर्शमात्रेण वाहयामास तां नदीम्।
भगवान् वामनो यद्वद्गङ्गां त्रिपथगामिनीम्॥
निम्बार्काय नमस्तस्मै जैनस्थानविमज्जिने।
प्रपन्नान्पालयिष्यँश्च शोषयामास तां नदीम्॥
उदीर्णान् सागरान् सप्त यथैवकुम्भसम्भवः।
निम्बार्काय नमस्तस्मै प्रपन्नपालिने नमः॥
स्थलं च जलतां नीत्वा जल च स्थलतां पुनः।
निषेधं विपरीत्वं पाखण्डमूलहीनताम्॥
प्रपन्नान्निर्भयत्वं च निरास्थानत्वमास्थितान्।
आचार्यताविधानेन शिष्यतां कांश्चिदुत्तमान्॥

(श्रीनिम्बार्कस्तव श्लोक ६४ से ६९ पर्यंत)

इन श्लोकों का भावार्थ उपरोक्त 'श्रीनिम्बार्क विक्रान्ति' के श्लोक १०८ से ११८ तक के अनुसार ही है।

पाखण्डकूटस्य नितम्बभञ्जी गङ्गेव गम्भीरसुचण्डवेगा॥११९॥
शिष्यप्रवाहेण सुतीर्थतीर्थिकुर्वन् क्षितिं भक्तिरसेन सिक्ताम्।
विष्वग् जगन्थ व्रजमेव धाम स्वप्रेमसिन्धुं स्थितभक्तसत्त्वम्॥१२०॥
संहृष्ट चित्तस्तदवेक्षणात्त्वं सद्ब्रह्मसम्पन्न इवस्वकेन्तः।
आत्मानमेवात्मनि मन्यमानः संसर्गमात्रेण विलक्षिताङ्गः॥१२१॥

गम्भीरसुचण्डवेगा (गम्भीर और प्रचण्ड वेग वाली) गंगा (जाह्नवी) इव (समान) पाखण्डकूटस्य (पाखण्डियों के शिरोमणि के) नितम्बभज्जी (नितम्ब को भेदन करने वाले) "आप" भक्तिरसेन सिक्तां (भक्तिरस से सुसञ्चित) क्षितिं (पृथ्वी को) विष्वग् (चारों ओर से) शिष्यप्रवाहेण (शिष्यों के प्रवाह से) सुतीर्थतीर्थिकुर्वन् (सुन्दर तीर्थ बनाते हुए) स्थितभक्तसत्त्वं (भक्तों की आत्मा श्रीनन्दनन्दन जहाँ पर विराजमान थे) स्वप्रेमसिन्धुं (अपने प्रेम का अगाध समुद्र) व्रजम् (व्रज) धाम (तेजः पुञ्जस्थान को) जगन्थ (आप गये) तदवेक्षणात् (उस व्रजधाम के दर्शन करने से) एव (ही) संहृष्ट चित्तः (प्रमुदित मन वाले) त्वं (आपने) स्वके (अपने) अन्तः (अन्तःकरण में) सद्ब्रह्मसम्पन्नः (परात्पर परब्रह्म की प्राप्ति के) इव (समान) आत्मनि (अपने अन्दर) आत्मानं (परब्रह्म श्रीकृष्ण को) मन्यमानः (मानते हुए) संसर्गमात्रेण (व्रज के सम्बन्ध मात्र से) एव (ही) विलक्षिताङ्गः (विलक्षण आकृति वाले बन गये) ॥११९॥१२०॥१२१॥

जिस प्रकार गम्भीर और प्रचण्ड वेग वाली श्रीगंगा पर्वतराज के शिखर का भेदन कर अपने पतित पावन जल प्रवाह से धरातल को पुनीत बनाती हुई महोदधि में मिलकर अभिन्नवत् हो जाती है, उसी प्रकार आपने भी अपनी सदुपदेश रूपी वचन-धारा तथा शिष्य समुदायके प्रवाह द्वारा भक्ति रसामृत से अभिषेचन कर, अर्थात् सर्वत्र भक्ति का प्रचार कर इस पृथ्वीतल को सुन्दर तीर्थ बना दिया और फिर उसी अपने प्रेम-पयोधि 'व्रजधाम' में आ पहुँचे, जहाँ पर कि, भक्तों के सत्त्व अर्थात् उपास्यदेव निरन्तर स्थित रहते हैं। व्रजधाम को देखते ही जैसे आत्मा के अन्दर ही परमात्मा का मनन करने वाला पुरुष केवल देहादि सम्बन्ध मात्र से विभिन्न स्वरूप से प्रतीत होता हुआ भी अपने सन्निकट ही सद्ब्रह्म का साक्षात्कार कर प्रमुदित बन जाता है, वैसे ही आप भी सदा-सर्वदा व्रजधाम में संयुक्त रहते हुए भी केवल तत्तत् देशों के सम्बन्ध मात्र होने से जो व्रजधाम और आप में

विभक्तता प्रतीत होती थी उस विभक्तता को मिटाकर सर्वसद्गुणगणार्णव परब्रह्म को सम्प्राप्त हो जाने वाले महापुरुष की भाँति प्रहर्षित हुए। अर्थात् श्रीव्रजधाम के संसर्ग मात्र से आप एक विचित्र आकृति युक्त दीखने लगे ॥११९॥१२०॥१२१॥

देवर्षिकारुण्यतरङ्गसेकसञ्जातसम्पाकपथ प्रवष्टि:।
देवर्षिपादाङ्कमवेत्य साक्षात् तत्रैव तत्कुण्डसमीपमार्गे॥१२२॥
श्रीमद्गुरोरङ्घ्रिरजस्सुसेवी ह्यक्रूरवत्त्वं न्यपतो मुरारे:।
आस्थाय गोवर्धनपर्वतस्य वामं भुजं तत्र गुरूपदिष्टम्॥१२३॥
ध्यानं कफोण्यामपि निम्बभुक्तिं कक्षे समाश्नास्तु निजाह्वपार्श्वे।

तत्र (वहाँ) देवर्षिकारुण्यतरङ्गसेकसञ्जातसंपाकपथप्रविष्ट: (श्रीनारदजी की करुणारूपी तरंगों के सेचन से समुत्पन्न सन्मार्ग में पहुँचे हुए) त्वं (आपने) तत्कुण्डसमीप मार्गे (श्रीनारद कुण्ड के निकट वाले मार्ग में) एव (ही) साक्षात् (स्वयं) देवर्षिपादाङ्कम् (श्रीनारदजी के चरण चिन्हों को) अवेत्य (प्राप्त कर) मुरारे: (श्रीनन्दनन्दन की) अङ्घ्रिरज: सुसेवी (चरण-रज को सेवन करने वाले) अक्रूरवत् (अक्रूर के समान) "आप" गुरो: (श्रीगुरुचरणों में) न्यपत: (गिर गये) तत्र (वहाँ पर) अपि (भी) गोवर्धनपर्वतस्य (श्रीगिरिराज की) वामं (बाँई) भुजं (ओर को) आस्थाय (स्थित होकर) गुरूपदिष्टं (श्रीगुरुदेव से सम्प्राप्त) ध्यानं (ध्यान) कफोण्यां (गुफा के अन्दर बैठकर करने लगे) तु (और) निजाह्वपार्श्वे (निम्बग्राम के समीप) कक्षे (वन में) निम्बभुक्तिम् (निम्ब के पत्रों के आहार का) समाश्ना: (भोजन करने लगे) ॥१२२॥१२३॥१२४॥

करुणासिन्धु देवर्षिवर्य श्रीनारदजी की करुणामयी तरंगों के अभिसिञ्चन से आपके चित्त में एक ऐसी तात्कालिकी धारणा उत्पन्न हुई, जिससे कि आप 'व्रजमण्डल की परिक्रमा' करने के लिये चले, और श्रीगिरिराज के सन्निकट 'श्रीनारद-कुण्ड' के समीप ही मार्ग में कोमल वालुका के ऊपर साक्षात् 'श्रीनारद भगवान्' के 'चरण-चिह्नों'

को देखकर अत्यन्त हर्षित हुए और अक्रूर के समान अपने को कृतकृत्य माना, अर्थात् जिस प्रकार कंस के भेजने पर अक्रूर भगवान् श्रीरामकृष्ण को मथुरा लाने के लिये गोकुल जा रहे थे, और मार्ग में अकस्मात् श्रीगोपालकृष्ण के चरण–चिह्नों को देखते ही अपना अहोभाग्य समझकर रथ से उतर साष्टांग प्रणाम किया, उसी प्रकार आपने भी साधक जनों को "यथा देवे तथा गुरौ" इस श्रुति के तात्पर्य में पूर्ण श्रद्धा रखने का और भगवान् के समान ही गुरुदेव में भाव रखने का सदुपदेश अपनी शारीरिक क्रिया से किया, अर्थात् गुरुदेव के चरण–चिह्नों को देखते ही लकुटिया की भाँति सीधे गिर गये। वह आपका साष्टांग प्रणाम करना लोक–संग्रह के निमित्त था, अत: उसी लोक–संग्रह के अनुसार देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने आपको उसी स्थल के सन्निकट रहने का आदेश किया। अत: आप भी 'श्रीगिरिराज' के वाम भाग में 'श्रीनारदकुण्ड' के समीप ही केवल 'निम्ब क्वाथ का ही भोजन' कर दुष्कर–तपश्चर्या करने लगे ॥१२२ ॥१२३ ॥१२४ ॥

एवं व्यवस्थापितसत्क्रियौघः कालं महान्तं सततं तपस्यन् ॥ १२४ ॥
त्वं सख्यभूर्गुर्वनुकम्पितात्मा श्रीसव्यपार्श्वस्थितरङ्गदेवी।
आचार्यरूपोऽधिकृतौ तु तिष्ठन् रूपद्वयोऽस्यात्मपरम्परावत् ॥ १२५ ॥
श्रीगुर्वभिप्राय विडम्बकाय, तस्मै स्वहार्द्दौघ सपाककर्त्रे।
श्रीरङ्गदेवीवपुषे नमस्ते निम्बार्करूपाय नमो नमस्ते ॥ १२६ ॥

एवं (इस प्रकार) व्यवस्थापितसत्क्रियौघः (सत्कर्मों के प्रवाह की संस्थापना कर) महान्तं (बहुत से) कालं (समय तक) तपस्यन् (तपश्चर्या करते हुए) अधिकृतौ (उपदेशाधिकार पद पर) आचार्यरूपः (आचार्य रूप से) तिष्ठन् (विराजते हुए) गुर्वनुकम्पितात्मा (श्रीगुरुदेव के कृपापात्र) त्वं (आप) श्रीसव्यपार्श्वस्थितरङ्गदेवी (श्रीराधिकाजी के बाँई ओर स्थित रंगदेवी (सखी रूप से) अभूः (सुशोभित हुए) "ऐसे" आत्मपरम्परावत् (स्वकीय परम्परा तुल्य) रूपद्वयः (नित्य दो रूपों से युक्त) असि (हो)।

तस्मै (उस) श्रीगुर्वभिप्रायविडम्बकाय (श्रीनारदजी के अभिप्राय की अनुसरणता करने वाले) स्वहार्द्दौघसपाककर्त्रे (निज सिद्धान्त को प्रसिद्ध बनाने वाले) श्रीरंगदेवीवपुषे (श्रीरंगदेवी की आकृति वाले) ते (आपके) श्रीनिम्बार्करूपाय (श्रीनिम्बार्कस्वरूप के लिये) नमः (नमस्कार है) ॥१२४॥ उ० ॥१२५॥१२६॥

इस प्रकार पाखण्डवादियों को परास्त कर सनातन वैष्णवधर्म की समुचित रूप से संस्थापना कर बड़े दीर्घकाल तक आपने निरन्तर महान् तप किया * जिससे गुरुदेव देवर्षिवर्य्य श्रीनारद भगवान् को परम सन्तुष्ट कर उनकी अनुकम्पा से लौकिक प्राणियों को सत्पथ दिखलाने के लिये आचार्यरूप से इस लौकिक व्रजमण्डल से 'निम्बग्रामस्थ' श्रीनिम्बार्कीय निकेतन में स्थित रहते हुए ही अन्तरंग रूपेण सर्वशक्तिमती सर्वेश्वरी श्रीराधिकाजी की परम प्रेममयी सखी 'श्रीरंगदेवी' के रूप से आप अपने उपास्यदेव श्रीराधा सर्वेश्वर के वामभाग में विराजित हुए, कारण, परम्परा से ही ये दोनों आपके

---

* इस श्लोक में महान् काल तक श्रीनिम्बार्काचार्यजी का निरन्तर तप करना प्रकट किया है, इससे यह निश्चय होता है कि, आपका अवतार त्रेतायुग के भी पूर्व हुआ है, जो कि चक्रराज का अवतार माना जाता है, इसी आशय को नैमिषारण्य के--

कल्पत्रयादपि प्राक् च विष्णुक्षेत्रे द्विजा हरिम्।
त्रेतायुगे गतप्राये वजन्तोऽसुरकुण्ठिताः॥

इत्यादि वचन भी पुष्ट करते हैं, अर्थात् त्रेतायुग के अन्त में इस कल्प से तीन कल्पों से पूर्व श्रीसुदर्शन का अवतार हविर्धान नाम से नैमिषारण्य में हुआ, तब हविर्धान ने ऋषियों की आपत्ति दूर की और वहाँ अपनी प्रतिमा रखकर स्वयं बदरिकाश्रम को चले गये। फिर द्वापर में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का अवतार हुआ, जब अवतार कार्यों की पूर्त्ति कर भगवान् निजधाम पधारने लगे, तब उद्धव के द्वारा बदरिकाश्रम से भगवान् ने श्रीनिम्बार्काचार्य को बुलाकर निम्ब ग्राम में निवास करने की आज्ञा दी?

(अनुवादक)

अधिकार-सिद्ध स्वरूप हैं, अतः संसार में गुरुचरणों के महत्व को प्रकटित करने के निमित्त श्रीगुरुदेव देवर्षिवर्य श्रीनारद भगवान् के अभिप्राय के अनुसार उनके हार्दिक सिद्धान्त (भगवद्भक्ति के पूर्ण प्रचार) का समर्थन कर उसको जगद्व्यापी बनाने वाले श्रीरंगदेवी और श्रीनिम्बार्काचार्य इन दोनों रूपों को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ॥१२४॥१२५॥१२६॥

श्रीकृष्णदर्शं ह्युभयत्र लब्ध्वा भावे समक्षं च वपुर्द्वयेन।
नित्यं यथेष्टं विगताभिलाषस्तस्मै नमः पूर्णमनोरथाय॥१२७॥

उभयत्र (दोनों प्रकार के) भावे (भाव में) हि (ही) वपुर्द्वयेन (दोनों शरीरों से) नित्यं (सदा) यथेष्टं (अभिलाषानुसार) समक्षं (प्रत्यक्ष) श्रीकृष्णदर्शं (श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शनों को) लब्ध्वा (प्राप्त कर) विगताभिलाषः (निष्काम रूप से) "विराजते हो" तस्मै (उस) पूर्णमनोरथाय (परिपूर्ण कामना वाले आपको) नमः (नमस्कार है)॥१२७॥

यद्यपि हे देव! आप उपरोक्त दोनों रूपों से गोलोक और मृत्युलोक इन दोनों लोकों में स्थित हैं। तथापि दोनों ही अप्राकृत नित्य शरीरों से भाव अर्थात् परम प्रेममयी भावना में दोनों ही लोकों में श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्त, अचिन्त्य महा महिम सद्गुणगणार्णवस्वस्वरूप का साक्षात्कार करते रहते हैं। अतएव सदा–सर्वदा अपने अभीष्ट की पूर्ति रहने के कारण आपके चित्त में कोई आशा, तृष्णा आदिक अभिलाषा घर नहीं कर सकती, क्योंकि आपके चित्त में उनको प्रवेश होने के लिये ठौर ही नहीं है, अतः ऐसे परिपूर्ण–काम श्रीआचार्यचरणों को मैं नमस्कार करता हूँ॥१२७॥

***

यहाँ तक के ग्रन्थ में श्रीनिम्बार्क भगवान् की लोक-यात्रा का वर्णन किया गया है। इसके आगे अब उसी लीला का विशिष्ट रूप से प्रदर्शन कराते हैं, जिसमें कि विवाद करते हुए एवं अपनी अपार योगशक्ति को दिखलाने वाले "विद्यानिधि नामक प्रचण्ड शाक्त विद्वान् को परास्त बना वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर, उसको श्रीनिवासाचार्य नामक अपना पट्ट शिष्य बनाया था," एवं अपने सुन्दर सुकोमल अलौकिक विग्रह में समस्त संसार को दिखलाकर सब प्रकार के अभिमानों से निर्मुक्त बना दिया था। अतः अब यहाँ से श्लोक २१० तब उन्हीं श्रीनिवासाचार्यजी की उक्ति को श्रीऔदुम्बराचार्य अभिव्यक्त करेंगे। अर्थात् पराजित होकर जिन-जिन शब्दों से विद्यानिधि शाक्त ने स्तुति की थी, उन्हीं शब्दों के प्रतिविम्बीभूत शब्द यहाँ अभिव्यक्त किये जायेंगे।

दिङ्मण्डलं दिग्विजयाग्रहेण विद्यामदान्धोऽभिजनाभिमानी।
संश्रुत्य मध्यस्थमहं विजित्यायं सर्वजेतारमशङ्कत त्वाम्॥१२८॥
श्रीकृष्णमादृश्य शमंदधानं चित्तेन तद्रूपकृतेन भान्तम्।
निश्चक्षुराभस्त्विव सात्विकाङ्गं निर्गर्व आश्चर्यमयोऽभवंवा॥१२९॥

अभिजनाभिमानी (अपने परिकर पर अभिमान रखने वाला) विद्यामदान्धः (विद्या के घमण्ड से अन्धा बना हुआ) अयं (यह) दिग्विजयाग्रहेण (दिग्विजय के आग्रह से) दिङ्मण्डलम् (दिशामण्डल को) विजित्य (जीतकर) मध्यस्थं (मध्यस्थ) संश्रुत्य (मानकर) त्वां (आपको) सर्वजेतारं (सम्पूर्ण जगत् का विजेता) अशंकत (माना) तद्रूपकृतेन (तद्रूप किये हुए) चित्तेन (चित्त से) शमं (शान्ति को) दधानं (धारण किये हुए) सात्विकाङ्गं (सात्विक अंगों वाले) भान्तं (प्रकाश रूपी) श्रीकृष्णं (श्रीकृष्ण स्वरूप को) आदृश्य (देखकर) अहं (मैं) निश्चक्षुराभः (चकाचौंध) इव (समान) निर्गर्वः (गर्वरहित) वा (एवं) आश्चर्यमयः (आश्चर्ययुक्त) अभवम् (बन गया) ॥१२८॥ १२९॥

हे सम्पूर्ण जगत् के विजेता ? जिस समय, यह वादी अपने शिष्य प्रशिष्य और वैभव आदि के अभिमान से एवं विशिष्ट विद्या के मद से अन्धा बना हुआ दिग्विजय की प्रतिज्ञा कर अपने निकेतन से चला है, तब समस्त दिशाओं को विजय करता हुआ ही आपके सन्निकट पहुँचा है, किन्तु आप भगवान् की उपासना में ही निरन्तर रत रहते हो अतः अपनी अलौकिक शक्ति से दूसरे व्यक्ति को प्रकटकर वादी को पराजिन बना दिया और आप मध्यस्थ के रूप से विराजमान रहते हुए श्रीसर्वेश्वर की उपासना करते रहे। अतः आपके समीप आने वाले वादी ने आपको ही समस्त जगत् का विजेता माना उस समय आपने मेरे भी चित्त को तद्रूप बना दिया, जिससे कि शान्त–स्वरूप धारण किये हुए अप्राकृत सात्विक अंगों वाले सुप्रकाश–स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन कर, चकाचौंध के समान गर्वरहित होकर आश्चर्य करने लगा ॥१२८ ॥१२९ ॥

त्वं नारदं विश्वसृडर्भभुक्तिं श्रीकृष्णमन्यैर्निजशश्चकास्से:।
तस्मै नमश्चात्सगुरूपमाय भक्तिप्रभावेन विकाशकाय ॥१३०॥

त्वं (आपने) विश्वसडर्भभुक्तिं (ब्रह्माजी के सुपुत्र) नारदं (श्रीनारदजी को) च (और) श्रीकृष्ण (भगवान् श्रीकृष्ण को) निजशः (अपने द्वारा) "तथा" अन्यैः (दूसरे भक्तों के द्वारा) चकास्सेः (अभिव्यक्त बनाया) "अतः" भक्तिप्रभावेन (भक्ति के प्रभाव से) विकाशकाय (उपास्यदेव और गुरुदेव के प्रभाव को बढ़ाने वाले) आत्मगुरूपमाय (अपने गुरुदेव श्रीनारदजी की उपमा को अभिव्यक्त करने वाले) तस्मै (आपके लिये) नमः (नमस्कार है) ॥१३० ॥

आपने अपनी भक्तिपूर्ण सदाचारता से एवं स्वप्रेरित दूसरे–दूसरे भक्तों के द्वारा ब्रह्माजी के सुपुत्र श्रीनारदजी को और आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र को प्रख्यात किया। जैसा कि त्रिलोकी में पर्य्यटन करते हुए देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी ने भगवद्भक्ति का प्रचार कर मायिक प्रपंचों के अन्धकार में विलीन प्राणियों को श्रीकृष्णचन्द्र का साक्षात्कार

करवाया था। अतः भगवद्भक्ति के प्रभाव से जगत् को सुप्रकाशित कर अपने गुरुदेव की उपमा को अभिव्यक्त करने वाले आपके लिये नमस्कार हैं॥१३०॥

त्वत्तेजसोमुष्टविशिष्टचेष्टस्तर्कैरपृच्छं भवदैश्यमुग्धः।
नानानिगूढार्थविशेषदुर्गान् ब्रह्मात्मजा वा सनकास्तु हंसम्॥१३१॥
त्वं विश्वजेतारमलंघ्यहार्द्दमालबयो मां सुविवेक मार्गैः।
पूर्व चतुर्मूर्तितुरीयतत्वं श्रीकृष्णचन्द्रोऽपि यथा कुमारान्॥१३२॥
विज्ञानवैराग्यजडत्ववार्यं देवर्षिवर्य्यं च यथा कुमाराः।
तस्मै नमस्ते सुवचोविमानैः संसारपारस्थितिदर्शकाय॥१३३॥

च (और) भवदैश्यमुग्धः (आपकी धार्मिक शासकता से चकित) त्वत्तेजसः (आपके तेज से) मुष्टविशिष्टचेष्टः (सांसारिक विशिष्ट चेष्टाओं से रहित हो) नानानिगूढ़ार्थविशेषदुर्गान् (अनेक प्रकार के दुर्गरूपी विशिष्ट रहस्यों को) हंसं (श्रीहंस भगवान् को) ब्रह्मात्माजाः (ब्रह्मा के मानस पुत्र) सनकाः (सनकादिकों के) वा (समान) अलंघ्यहार्द्द (भगवद्भक्ति का पूर्ण पालन करते हुए ही) विश्वजेतारम् (विश्व विजयी) "आपको" तर्कैः (तर्क वितर्कों के साथ साथ) अपृच्छम् (मैंने पूछा) तु (फिर) त्वं (आपने) अपि (भी) यथा (जैसे) पूर्वं (पहिले) चतुर्मूर्तितुरीयतत्वम् (व्यूहावतार की चारों मूर्तियों में से चतुर्थ मूर्ति के अवतार) कुमारम् (श्रीसनत्कुमारों को) श्रीकृष्णचन्द्रः (भगवान् हंसावतार धारी श्रीकृष्ण) च (और) विज्ञानवैराग्यजडत्ववार्य्यं (ज्ञान और वैराग्य की जड़ता को मिटाने वाले) देवर्षिवर्य्यं (श्रीनारदजी को) कुमाराः (सनत्कुमारों ने) यथा (जैसे) "तत्वोपदेश किया था वैसे ही" त्वं (आपने) सुविवेकमार्गैः (सुन्दर वैज्ञानिक रीति पूर्वक) मां (मुझको) आलम्बयः (तत्त्वज्ञान कराया) तस्मै (उस) सुवचो विमानैः

★ श्रीनारद भगवान् ने जैसे अपने दीक्षागुरु श्रीकुमारों को और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को, उनकी पराभक्ति का प्रचार कर सर्वत्र अभिव्यक्त बनाया था, वे गाथायें पुराणादि में प्रसिद्ध ही हैं।

(सुन्दर वाणीरूपी विमानों के द्वारा) संसारपारस्थितिदर्शकाय (संसारसागर से आगे की स्थिति दिखलाने वाले) ते (आपके लिये) नम: (नमस्कार है) ॥१३१॥१३२॥१३३॥

हे प्रभो! आपके तेज ने मेरी कायिक, वाचिक, मानसिक सभी प्रकार की विशेष चेष्टाओं का हरण कर लिया, अर्थात् सांसारिक एक भी प्रवृति अब मुझमें नहीं रही है, क्योंकि आपके उपदेशों में ऐसी ही विचित्रता है, अनेक प्रकार के तर्क वितर्कों के साथ-साथ जैसे ब्रह्माजी के मानसपुत्र सनकादिकों ने श्रीहंस भगवान् से बहुत से छिपे हुए गूढ़ रहस्य, जो कि विशिष्ट दुर्गों की भाँति दुस्तर हैं उनको पूछा था, उसी प्रकार मैंने भी आपसे अनेक प्रकार के उलझे हुए भावों को तर्कवितर्कों के साथ-साथ पूछा, जिस पर आपने जैसे पहिले कृतयुग में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने वासुदेवादि चतुर्व्यूहों में से चतुर्थ स्वरूप (श्रीअनिरुद्ध) रूप से अवतरित श्रीसनकादिकों को और सनकादिकों ने जैसे ज्ञान-वैराग्य की वृद्धावस्था अर्थात् कमजोरी मिटाने वाले देवर्षिवर्य श्रीनारदजी को सुन्दर वाक्यामृत रूपी विमानों से प्रशंसनीय भक्तिमार्ग (सीधा रास्ता) दिखलाकर संसारसिन्धु के उत्तर तट का दर्शन कराया था, उसी प्रकार भगवद्भक्ति को निभाते हुए ही विश्वविजय करने वाले, आपने संसार-सिन्धु के अन्दर निमग्न होते हुए मुझ (अपने चरण किंकर) को समुद्र में से ऊपर खैंचा और विमान-रूपी अपनी सुधा सदृश वाणी के द्वारा सुन्दर सत्पथों से संसार-सिन्धु का किनारा दिखलाया। अत: संसार-सागर से पार कर देने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१३१॥१३२॥१३३॥?

यहाँ पर श्रीऔदुम्बराचार्य ने अपनी 'गुरु-परम्परा' प्रकट की है अर्थात् श्रीहंसभगवान् ने तत्त्वज्ञान और यह पंचपदी विद्या श्रीसनकादिकों को प्रदान की और सनकादिकों ने श्रीनारद भगवान् को प्रदान की, एवं श्रीनारद भगवान् से आपने प्राप्त की, वही विद्या मैंने आपसे प्राप्त की। जिस प्रकार इस सत्सम्प्रदाय के मूलाधार

हंसावतारधारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने सनकादिकों को उपदेश दिया था, वह आख्यायिका इस प्रकार है कि सृष्टि के आरम्भ में एक समय सनकादिक महर्षियों ने सत्यलोक में जाकर पितामह श्रीब्रह्माजी से यह प्रश्न किया कि हे देव! यह संसार तीन गुणों से बनी हुई एक रस्सी है, जोकि प्रकृति के सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से उत्पन्न होती है। अतः सभी भोग–विषय तीनों गुणों से ओत–प्रोत हैं, इन भोग्य विषयों से जब चित्त पृथक् हो और गुणातीत भगवान् के चरणों में संलग्न हो जाय, तभी प्राणियों की दुःख से मुक्ति हो सकती है, परन्तु विषयों की ओर मन जाता है और वे अनुभूत विषय मन के अन्दर निवास किये रहते हैं। अतः मन और विषयों की विभिन्नता कैसे हो सकती है? कारण, मन भी त्रिगुणात्मक है और विषय भी त्रिगुणात्मक है। अतः इन दोनों का परस्पर में दृढ़ सम्बन्ध है, वह कैसे टूट सकता है? इसी आशय को भागवतकार ने विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

गुणोष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो!
कथमन्योन्य संत्यागी मुमुक्षोरति तितीर्षोः॥

(श्रीमद्भावत ११ स्कन्ध १३ अध्याय १७ श्लोक)

श्लोकार्थ उपरोक्त ही है। इस प्रकार किये हुए प्रश्न का प्रत्युत्तर जब ब्रह्माजी नहीं दे सके, तब उन्होंने मायापति परात्पर श्रीभगवान् का ध्यान किया, जिससे भगवान् को हंसावतार धारण करना पड़ा, क्योंकि हंस में ही यह विशेषता है कि वह दूध और पानी का विभाग कर सकता है, परन्तु यह प्रश्न तो उससे भी कठिन समस्या रखता है अर्थात् चित्त और गुण विषय स्वभाव से ही जब मिले हुए हैं, तो फिर कैसे पृथक् हो सकते हैं? अतः तत्त्वा–तत्त्व विवेचन के लिए भगवान् को हंसावतार धारण करना पड़ा, उस प्रश्न का प्रत्युत्तर श्रीहंसभगवान् ने इस प्रकार दिया था कि, हे कुमार गण!

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

(भाग० ११ स्कन्ध १३ अ० २६ श्लोक)

अर्थात्, यद्यपि बारम्बार विषयों को सेवन करने से चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है और विषय चित्त में रूढ़ हो जाते हैं। अत: प्रथित होने के कारण उन दोनों का परस्पर विभाग होना कठिन है, तथापि चित्त और विषयों को पृथक्-पृथक् करने का एक सरल उपाय है। वह यह है कि चित्त और विषय इन दोनों को मेरे में लीन कर दे, जब चित्त के द्वारा मेरे रूप का अनुभव किया जायगा, तब फिर विषयों का उसको स्मरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि अननुभूत विषयों का किसी को भी स्मरण नहीं होता।

इस प्रकार भगवान् ने एक सच्चा और सीधा मार्ग बतलाकर आगे २७वें श्लोक से जाग्रत-स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को बुद्धि का धर्म बतलाकर चित्त और विषयों की विभन्नता करने वाले भगवद्भजन रूपी साधन की उपपत्ति दिखलाई है कि:-

यर्हि संसृति वन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तूर्य्ये स्थितोजह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम्॥

(अ० ११/१३/२८)

अहंकारकृतं वन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान्निर्विद्य संसार चिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥

(भा० ११/१३/२९)

अर्थात् चित्त और गुणों (विषयों) का जैसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो रहा है, वैसे ही आत्मा के साथ भी उस विषयासक्त चित्त का सम्बन्ध है। अतएव विषयासक्त चित्त के इस सम्बन्ध ने ही जीवात्मा को जकड़ रखा है, जब चित्त हेयगुणरहित सर्व सद्गुण-समुद्र तुरीय तत्त्व मुझ परम्परा से सम्बन्धित हो जाता है, तब फिर वह चित्त प्राकृत गुणों में आसक्ति नहीं रखता, कारण कि, "जिसको एक ही स्थल पर

परिपूर्ण रसानन्द रूपी अमृत मिल गया, फिर वह अनेक स्थलों में भटक-भटक कर क्षुद्र रसों को संचय करने का कष्ट क्यों उठावे" ? विषयों की आसक्ति को छोड़कर मुझ में लगे हुए चित्त का सम्बन्ध फिर जीवात्मा का बन्धन नहीं करता, क्योंकि, आसक्ति से अहंकार और अहंकार से निरन्तर दु:खदायिनी चिन्ता उत्पन्न होती है। वह सांसारिक चिन्ता ही बन्धन कहलाता है। अत: आसक्ति के नष्ट होते ही उसके कार्यस्वरूप अहंकार और तज्जन्य चिन्ता सभी के विलीन होने से आत्मा निर्द्वन्द वन जाता है। उक्त श्लोकों का सारांश यही है कि, परम्परा में स्थित (संलग्न) होने से ही चित्त और विषयों का परस्पर विभेद हो सकता है, अन्यथा नहीं। (ग्रन्थकार ने इसी आशय का उदाहरण यहाँ व्यक्त किया है)

इसी प्रकार श्रीनारदजी ने भी लोकोपकारार्थ सनकादिकों से प्रश्न किया था कि, जगत् में सर्वोच्च सुखदायिनी कौन सी वस्तु है? जिससे बढ़कर कि और कोई उत्कृष्ट वस्तु न हो।

इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मविद् महर्षियों ने बड़ी सुन्दरता से ऐसे क्रमपूर्वक किया है कि, जैसे कि किसी असमर्थ पुरुष को अत्यन्त ऊँचे प्रसाद (महल) पर सुखपूर्वक चढ़ाने के लिये छोटी-छोटी सीढ़ियाँ बनाई हों। अर्थात् पहिले नाम को अच्छा सुखमय बतलाया, उसके अनन्तर जिज्ञासा करने पर वाणी और वाणी से मन को उत्कृष्ट बतलाया, इसी क्रम से सङ्कल्प चित्त ध्यान विज्ञान-बल अन्न-जल-तेज-आकाश-स्मरण-आशा प्राण-इन सबों में पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर वस्तुओं में श्रेष्ठता एवं विशेष सुख की अभिव्यक्ति बतलाई। इस प्रकार इस संसार रूपी महल की छत तक पहुँचा कर सर्वक्लेश शून्य निरावरण आकाश रूपी भूमा भगवान् को सर्वश्रेष्ठ बतलाया कि-

यो वै 'भूमा' तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य: ॥

(छान्दोग्पोनिषत् ७/२३/१)

अर्थात् इन क्षुद्र वस्तुओं में यत्किञ्चित् सुख का आभास है, नित्य निरतिशय सुख के निकेतन तो सच्चिदानन्दघन (भूमा) भगवान् श्रीराधा सर्वेश्वर ही हैं। अत: उनको ही जानने की तथा प्राप्त होने की इच्छा करनी चाहिये। गुरुदेव के इस निर्देश को सुनकर श्रीनारदजी ने उसी भूमा-तत्त्व को जानने की इच्छा की, और प्रश्न किया कि, हे प्रभो! वही उपाय बतलाइए जिससे कि, भूमा तत्त्व की प्राप्ति हो। तब श्रीसनकादिकों ने अन्तिम उपदेश किया कि, हे नारद! "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा"

(छा० ७/२४/१)

अर्थात् जब साधक अनन्य प्रेमा–भक्ति तक पहुँच जाय, और जिस समय अन्य क्षुद्र विषयों को देखना, सुनना तथा जानना भी नहीं हे, तब भूमा भगवान् श्रीसर्वेश्वर की प्राप्ति होती है, अर्थात् वह पुरुष भूमामय हो जाता है। और उसको समस्त जगत् भूमा भगवान्मय दीखता है।

तात्पर्य यह है कि, "भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" इस गीता के वचन के अनुसार समस्त सुखों के मूलाधार भगवान् अनन्य–भक्ति से ही जाने जाते हैं और उसी प्रेम–लक्षण–भक्ति से प्राप्त होते हैं। अन्यथा प्रत्येक देवों के पीछे–पीछे भटकते रहने से भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती, और न वास्तविक सुख ही मिल सकता है। अत: हे नारद! एक श्रीसर्वेश्वर की ही चाहना करो? उसी को खोजो? और उसी की गाथा सुनो! सर्वत्र उसी को देखो? और उसी के लिये अपना तन मन धन अर्पण कर दो? बस यह उपदेश सनकादिकों ने श्रीनारदजी को दिया था, वही उपदेश आज आपने मुझको प्रदान किया।

त्वं मानुकम्पी ह्यवशेषभुक्त्यै विष्णोर्निमन्त्र्य प्रणयैरभुंक्था।
नक्तं निषिद्धं न इतीरितोऽन्नं स्वं रूपमाद्यं रविकोटिभासम्॥१३४॥
गोवर्द्धनाग्रेषु घनोपमेषु संदर्शयित्वा गगनेऽन्तरद्धा।
भास्वानिव प्रातरूपाशयस्ते तस्मै नमः सूर्य सुकार्यकर्त्रे॥१३५॥

मानुकम्पी (परालक्ष्मी श्रीराधिकाजी के कृपापात्र अथवा मुझ पर कृपा करने वाले) त्वं (आपने) नक्तं (रात्रि में) नः (हमारे मत से) अन्नं (भोजन) निषिद्धम् (वर्जनीय है) इति (ऐसे) ईरितः (कहने वालों को) विष्णोः (विष्णु भगवान् की) अवशेषभुक्त्यै (महाप्रसाद लेने के लिये) प्रणयैः (विनीत वचनों से) निमन्त्र्य (निमन्त्रित कर) घनोपमेषु (श्यामघन सदृश) गोवर्धनाग्रेषु (श्रीगिरिराज के शिखरों पर) गगने (आकाश के) अन्तः (अन्दर) अद्धा (सूर्य विद्यमान है, यह स्वीकार कर) रवि कोटिभासम् (करोड़ों सूर्यों के समान कान्ति वाले) प्रातः (प्रातःकालीन) उपाशयः (ऊपर को चढ़ते हुए) भास्वान् (सूर्य) इव (समान) आद्यं (वास्तविक) स्वं (स्वकीय) रूपं (स्वरूप को) दर्शयित्वा (दिखलाकर) अभुङ्क्था (भोजन किया) तस्मै (उस) सूर्यसुकार्यकर्त्रे (सूर्य समान कार्य करने वाले) ते (आपको) नमः (नमस्कार है) ॥१३४॥१३५॥

हे आचार्य शिरोमणि! मुझ जैसे जघन्य अर्थात् मात्सर्यजन्य जड़ बुद्धि प्राणियों पर अनुग्रह करने वाले आपने भगवान् श्रीसर्वेश्वर को समर्पित की हुई भोज्य सामिग्रियों से भोजन कराने के लिये उन यतियों को (जो कि यह कह रहे थे कि, भगवन्! हमारी आम्नाय से रात्रि में अन्न का भोजन करना निषिद्ध है) नीति-युक्त बड़ी विनम्र और मधुर वाणी से बुलाकर सान्त्वना प्रदान की और कहा कि, "आप धैर्य रखें अभी तमोमयी रात्रि कहाँ हुई है? देखिये! चारों ओर प्रकाश ही तो है।" ऐसे कहकर "गिरिराज श्रीगोवर्धन के श्याम घन सदृश शिखरों (पर खड़े हुए निम्बवृक्षों) पर आकाश तल में करोड़ों सूर्य के समान कान्ति वाले सूर्य की भाँति प्रकाश करते हुए अपने आदि (सुदर्शन) स्वरूप को दिखलाकर उन 'यतियों' को भगवत्प्रसाद का भोजन करवाया।" ऐसे सूर्य के समान सुन्दर कार्य करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१३४॥१३५॥

मय्याशयाने ह्युपसञ्जहर्थ रूपान्तरं स्वंरविमन्तकारः।
सम्भुक्त्यशेषेत्विव शेषदेवस्तस्मै नमः शेषकृताऽनुकर्त्रे ॥१३६॥

तु (फिर) मयि (मेरे को) आशयाने (भोजन करादेने) पर संभुक्त्यशेषे (प्राणियों के भोग पूर्ण हो जाने पर) अन्तकारः (प्रलयकारी) शेषदेवः (शेष भगवान् "के",) इव (समान) त्वं (आपने) रूपान्तरम् (दूसरे स्वरूप) रविम् (प्रभा पुंज सूर्य को) उपसंजहर्थ (सन्निकट आकर्षित कर लिया) तस्मै (उस) शेषकृताऽनुकर्त्रे (शेष भगवान् के अनुकरण को दिखलाने वाले) "आपको" नमः (नमस्कार है) ॥१३६॥

जब यतियों ने शान्ति-पूर्वक भोजन कर लिया, तब जैसे ब्रह्मा के शयन करने पर कल्पान्त में शेषदेव प्राणियों को अपने अन्दर लीन कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने ही रूपान्तर से जो आकाश में प्रतीत होता था, उस सूर्य को आकर्षित कर अपने सन्निकट अन्तर्हित रूप से रख लिया। अतः प्रलयकारी शेषभगवान् के अनुसार लीला करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१३६॥

उत्थाय विज्ञाय निशीथकालं जाज्वल्यमानस्तनुजातशोहम्।
मात्सर्य्यवह्नेः शिखयाल्पसारः संसारदुर्वाररयो निरस्तः ॥१३७॥
त्वां तेजसां पुञ्जमभिप्रकाशी खद्योत आदित्यभिवार्चिषंवा।
स्वां योगशक्तिं प्रतिदर्शयिष्यन्नुद्युक्त आसम्भ्रमयन् पतङ्ग ॥१३८॥

आदित्यं (सूर्य को) अभिप्रकाशी (प्रकाशित करने की इच्छा वाला) खद्योतः (जैंगुनू) इव (सदृश) अर्चिषम् (प्रदीप आदि प्रकाश के प्रति) भ्रमयन् (सम्भ्रमित बना हुआ) पतङ्गः (पतंगजन्तु) वा (सदृश) तेजसां (समस्त तेजों के पुंज) त्वां (आपको) मात्सर्य्यवन्हेः (अभिमान रूपी अग्नि की) शिखया (शिखा से) जाज्वल्मानः (प्रज्वलित) स्वां (अपनी) योगशक्तिम् (चमत्कारता) प्रतिदर्शयिष्यन् (दिखलाता हुआ) उद्युक्तः (उद्यत) आसम् (मैं हुआ) 'किन्तु' संसारदुर्वाररयः (संसार में असह्य वेग वाला) "भी" तनुजातशः

(क्षीण काय) अल्पसार: (न्यून प्रभाव हो) अहं (मैं) निरस्त: (पराजित अर्थात् चकित बन गया) ॥१३७॥१३८॥

हे अन्तर्जगत् के प्रकाशक! वादियों को पराजय करने से जिस के चित्त में ऐसी वासना घर कर बैठी थी कि, आज जगत् में मैं ही अधिक तेजस्वी हूँ, किन्तु हे अन्तर्यामिन्! आपने–अपने अमित तेज: पुञ्ज को निम्ब–वृक्ष पर दिखलाकर भोजन करने के अनन्तर जब वापिस खेंचकर अपने अन्दर गुप्त रूप से रख लिया, तब आश्चर्य पूर्वक उसने देखा तो न अग्नि ही देखने में आई और न सूर्य ही दृष्टिगत हुआ, अपितु अर्द्धरात्रि का समय प्रतीत हुआ, इस विचित्रता को देखते ही घमण्ड रूपी अग्नि की शिखाओं से जल जाने के कारण, अल्पसार युक्त सांसारिक क्रोधादि विषयों के दुर्वार वेग से परिपूर्ण वह ऐसा निरस्त हो गया, मानो समस्त तेजों के केन्द्र रूप आदित्य (सूर्य) भगवान् को अथवा बिजली आदि ज्योतियों को प्रकाशित करने की इच्छा रखने वाला खद्योत (जुगुनू–पट–वीजना) तिरस्कृत हो जाता है। जब अपनी योगशक्ति को दिखाने के लिये वह उद्यत हुआ तो चक्कर लगाने वाले पतङ्ग के समान ही बन गया। अर्थात् जैसे दीपक को देखकर पतङ्ग गिर रहे हों, उसी प्रकार वह आपके अमित तेज के प्रभाव से दृष्टिहीन बन चक्कर लगाता हुआ आपके तेज से निरस्त बन गया॥१३७॥१३८॥

श्रीनिम्बार्क भगवान् के दिव्य विग्रह में समस्त विश्व को देखता हुआ वह विद्यानिधि कहता है कि

सन्धार्यमाणं सममात्मनेदं विश्वात्मनि त्वय्यनुपर्ययेण।
धिष्ण्ये स्वकेऽपश्यमहं यथा क: कौन्तेयमुख्यो भगवत्यनन्ते॥१३९॥
संश्लिष्टमात्मानमिवान्यमप्सु तस्मै नमो दर्शित विश्वधाम्ने।
यत्र प्रतिश्रुत्य दधारधार्यं कार्यं चकार प्रभुभिस्त्वशक्यम्॥१४०॥

विश्वात्मनि (विश्वरूप) भगवति (भगवान्) अनन्ते (श्रीकृष्ण-चन्द्र के स्वरूप में) यथा (जैसे) कौन्तेयमुख्य: (कुन्ती के पुत्रों में से अर्जुन ने) "देखा था, वैसे" स्वके (अपने) धिष्ण्ये (स्थान) त्वयि (आपके अन्दर) आत्मना (अपने द्वारा) अनुपर्ययेण (क्रम पूर्वक) संधार्यमाणम् (धारण किये हुए) इदम् (इस जगत् को) अप्सु (जलों में) संश्लिष्टम् (मिश्रित) "होते हुए भी" अन्यं (विभिन्न) इव (समान) च (और) आत्मानं (अपने को) अपश्यम् (मैंने देखा) तस्मै (उस) दर्शितविश्वधाम्ने (समस्त जगत् को दिखलाने वाली आपकी मूर्त्ति को) नम: (नमस्कार है) यत्र (जिस मूर्त्ति में स्थित हो आपने) प्रभुमि: (देवों से भी) अशक्यम् (न हो सकने वाले) कार्यम् (कार्य को) चकार (किया) तु (और) धार्यं (धारण करने योग्य व्रत को) प्रतिश्रुत्य (प्रतिज्ञा कर) दधार (धारण किया) ॥१३९ ॥१४० ॥

हे विश्वधार ? आपके इस जंगम्य विग्रह में मैंने अपने शरीर के साथ-साथ यह समस्त जगत् यथावस्थित धारण किया हुआ देखा, जैसे कि कुन्ती के पुत्रों में से मुख्य अर्जुन ने महाभारत युद्ध के समय अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के कमनीय कलेवर में देखा था, अत: जिस मंगलविग्रह में प्रतिज्ञा-पूर्वक (मुझ संतप्त किंकर को धारण किया और बड़े-बड़े शक्तिशाली महानुभावों से भी न हो सके, ऐसे-ऐसे कार्य किये उस अद्‌भुत आश्चर्यमय विग्रह मूर्त्ति को मैं नमस्कार करता हूँ॥१३९ ॥१४० ॥

अब यहाँ से श्रीनिम्बार्क भगवान् के जिन-जिन अंगों में जिन-जिन वस्तुओं को देखा उनका यथाक्रम वर्णन किया जाता है।

तुच्छं त्वदक्षेषु परिभ्रमन्तं रन्ध्रातपे सत्वमिवात्मभास्सु।
पश्यँस्तदाऽहं विमदोपि धृष्टो मोघप्रतिज्ञोऽकरवंह्युपायम् ॥१४१ ॥
संत्यज्य संत्यज्य धृतं स्वयोज्यं मालामणिंश्चेव करेण जापी।
श्रीवासुदेवं धृतविश्वचित्ते क्षेत्रज्ञमादौ सह मे धृतञ्च ॥१४२ ॥

तदा (उस समय) रन्ध्रातपे (जाली की घाम) "धूप में" इव (जैसे) आत्मभास्तु (चेतन प्रभा स्वरूप) त्वदक्षेषु (आपके नेत्रों की प्रणालिका में) परिभ्रमन्तम् (फिरते हुए) सत्वम् (प्राण समुदाय को) तुच्छम् (अल्प) इव (सदृश) पश्यन् (देखता हुआ) विमदः (अभिमान रहित) अपि (भी) धृष्टः (अविनीत) मोघप्रतिज्ञः निष्फल (प्रतिज्ञा वाले मैंने) उपायम् (प्रयत्न) अकरवम् (किया) च (और) मालामणीन् (माला के मणिकाओं को) करेण (हाथ से) जापी (जप करने वाले "के" इव (समान) स्वयोज्यं (अपनी योजना को) संत्यज्य (त्याग) संत्यज्य (त्यागकर) धृतम् (रखी) च (और) धृतविश्वचित्ते (विश्व को धारण किये हुए चित्त में) धृतम् (धारण किये हुए) मे (मेरे) क्षेत्रज्ञम् (जीवात्मा) "और" श्रीवासुदेवम् (श्रीवासुदेव भगवान् को) सह (साथ ही) "देखा" ॥१४१ ॥१४२ ॥

हे सर्वाधार! जैसे किसी रन्ध्र अर्थात् मकानों के मोखे (झरोखे) में होकर घर में आने वाले आतप (सौम्य घाम) में छोटे-छोटे त्रसरेणु दीखते हों, उसी प्रकार आपके प्रभायुक्त नेत्र-कमलों की प्रणालिका में इस जगत् के बड़े-बड़े पहाड़ आदिक वस्तुओं को घूमती हुई देखकर मैं भयभीत हुआ। यद्यपि इस दृश्य को देखकर मैं गर्वरहित हो चुका और प्रतिज्ञा भी कर चुका था कि, आप ही सर्वाधार सर्वनियन्ता शरणागत पाल हैं, और मैं आपकी शरण में हूँ। तथापि जीव स्वभाव से मेरी उस धारणा में पूर्ण स्थिरता न रहने के कारण मैंने मोघ प्रतिज्ञा अर्थात् निष्फल प्रतिज्ञा करने वाले की भाँति धृष्ठता-पूर्वक अर्थात् आपके नेत्रों की ज्योति से चमत्कृत अवकाश में घूमते हुए गिरिवर-तरुवर-नगर-ग्राम आदि को देखकर मेरे चित्त में यह कल्पना उद्भूत हुई कि सब निराधार फिर रहे हैं, यदि इनमें से कोई पहाड़ आदि पदार्थ कदाचित् मेरे ऊपर गिरजायगा। तो उसी क्षण चूर-चूर हो जाऊँगा, इस भय से बचने के लिये उपाय करने लगा। जैसे कि, माला फेरने वाला प्राणी एक मनिका को पकड़ कर छोड़ता है और दूसरे को

फिर पकड़ता है, उसी प्रकार मैंने भी पहिले निश्चित किये हुए उपायों को छोड़-छोड़कर "दूर भागने" आदिक और-और उपाय करने लगा, इसी महान् दु:ख के अवसर पर हे आर्तत्राण परायण! सर्व प्रथम मैंने विश्व को धारण करने वाले आपके चित्त में चित्त के प्रवर्त्तक क्षेत्रज्ञ के साथ-साथ उसके अधिष्ठाता देव श्रीवासुदेव के दर्शन किये॥१४१॥१४२॥

तात्पर्य यह है कि, 'श्रीनिवासाचार्यजी' को अपने वास्तविक 'विराट् स्वरूप' का साक्षात्कार करवाने के लिये पहिले श्रीनिम्बार्काचार्यजी, स्वयं मौन रहे। अत: उनके अन्दर कुछ-कुछ गर्व उद्भूत हुआ, उस गर्व को दूर करने के लिये और फिर से वैसी गर्वीली वृत्तियों की अभिव्यक्ति न होने देने के निमित्त यह अपना प्रभाव दिखलाया अर्थात् पहिले उनके सन्निकट अपने तेज को संस्थापित कर उनकी अहंकारोत्पादक वासनाओं का विध्वंस किया, जिससे उनका ज्ञान आवरण रहित हो व्यापक शक्ति से सम्पन्न हुआ। अत: सूक्ष्मस्वरूप का प्रत्यक्ष होने लगा। कारण जैसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को शोकाविष्ट अवस्था में दिव्य चक्षु प्रदान कर–

"इहैकस्थं जगत्कृष्नं पश्याद्य सचराचरम्"

अर्थात् हे अर्जुन! तू यहाँ एक ही स्थल (मुझ) में समस्त संसार का दर्शन कर! यह प्रतिज्ञा कर अपना विराट्स्वरूप दिखलाया, उसी प्रकार श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी अन्तर्भाविनी प्रतिज्ञा कर श्रीनिवासाचार्य (विद्यानिधि) को अपने विराट्-स्वरूप का दर्शन कराया, इसलिये श्रीनिवासाचार्य ने जिस-जिस अंग में जिन-जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष किया, उनका क्रमश: यहाँ वर्णन करते हैं।

अनन्त अचिन्त्य विचित्र सृष्टि के रचयिता परमेश्वर की यह अत्यन्त अपार महत्ता है कि, प्रत्येक देह में संक्षिप्त रूप से समस्त सृष्टि का समावेश कर रखा है, जैसे कि एक छोटे से बीज के अन्दर

महान् बड़–पीपल आदि वृक्ष छिपा रखे हैं, किन्तु वे वृक्षादिक बीजों के अन्दर समस्त प्राणियों की दृष्टि में नहीं आ सकते, हाँ जब भगवान् अनुग्रह कर दिव्यदृष्टि प्रदान कर दें, तब तो एक ही स्थान में समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष सहज ही में हो सकता है। इसी प्रकार ईश्वर कृत सृष्टि की प्रक्रिया जानने से भी मुमुक्षजनों को भगवान् की अन्तर्यामिता एवं जगद्व्यापकता का अनुसन्धान हो सकता है, जिससे कि, "वासुदेव: सर्व मिति, सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि शास्त्र–वाक्यों से बतलाया हुआ भगवत्स्वरूप और उसकी यथार्थता चित्त में जम जाती है। अत: यहाँ पर सृष्टि का क्रम और उसकी सामग्रियों का दिग्दर्शन कराने के लिये सृष्टि की प्रक्रिया प्रकट की जाती है।

तत्त्व जिस जगत् को हम अनेक आकारों में विस्तृत रूप से देख रहे हैं, उसके मूल केवल तीन हैं, प्रथम परमात्मा, द्वितीय जीव और तृतीय प्रकृति। इन्हीं तीनों को "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा" इत्यादि श्रुतियाँ भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) और प्रेरिता (परमात्मा) इत्यादि नामों से प्रतिपादन करती हैं। इन्हीं तीनों के द्वारा यह अपार जगत् प्रादुर्भूत होता है और इन्हीं के द्वारा बढ़ता एवं इन्हीं के द्वारा फिर लीन हो जाता है।

उपरोक्त तीनों तत्त्वों में–परमात्मा तत्त्व ही स्वतन्त्र है और अवशिष्ट दोनों तत्त्व उसी परमात्मा के आधीन रहते हैं एवं उसी की प्रेरणा के अनुसार अपने–अपने कर्तव्यों में प्रवृत्त होते हैं।

यद्यपि ये दोनों एक ही परमात्मा के आश्रित रहते हैं। अर्थात् किसी भी क्षण में उससे सर्वथा पृथक् नहीं हो सकते, तथापि विलक्षण धर्मों के आश्रय होने के कारण परमात्मा से अभिन्न नहीं माने जाते। इसी कारण से शास्त्र में इन तीनों तत्त्वों का भिन्नाभिन्न सम्बन्ध माना गया है।

क्रम अतएव जिस समय परा और अपरा इन दोनों प्रकृतियों (जीव और माया) के आधार श्रीसर्वेश्वर समस्त जगत् को और

उसके मूल कारणों को, अपनी योग-शक्ति में लीन कर लेते हैं, तब वह महाप्रलय कहलाता है। उसके अनन्तर कल्प के आदि में जब "तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतियों द्वारा बतलाये हुए अपने स्वाभाविक ईक्षण अर्थात् अब जगत् की पुनः रचना करने के लिये अनेक रूपों से मैं व्याप्त हो जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा होने पर प्रकृति (सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों) में क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे सर्व-प्रथम 'महत्तत्त्व (बुद्धि तत्त्व) प्रकट होता है, जो कि गुणों के भेद से तीन प्रकार का माना जाता है, फिर उस महत्तत्त्व से' 'तीन प्रकार' का ही 'अहंकार' प्रकट होता है। उनमें से वैकारिक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता १० देवता और १ मन उत्पन्न होता है। वह मन यद्यपि एक ही है, तथापि विभिन्न-विभिन्न वृत्तियों से एवं विभिन्न स्थानों में रहने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। अर्थात्, 'गले में रहकर संकल्प-विकल्प (सोच विचार) करने वाला मन कहलाता है। इसका प्रवर्तक देव चन्द्रमा है और इसमें उपासना करने योग्य अधिष्ठाता देव अनिरुद्ध है। 'मुख में स्थित हो ज्ञान कराने वाला मन ही बुद्धि कहलाता है, इसका प्रवर्तक देव ब्रह्मा है और इसमें उपासना करने योग्य देव प्रद्युम्न है। हृदय में स्थित हो अभिमान करने वाला मन ही अहंकार कहलाता है। इसका प्रवर्तक देव शंकर है और इसमें उपासना करने योग्य देव सङ्कर्षण है। नाभि में स्थित रहकर चिन्तन करने वाला मन ही चित्त कहलाता है। इसका प्रवर्तक देव क्षेत्रज्ञ है (जिसको कि कई स्थलों में अच्युत भी कहा है) और इसमें उपासना करने योग्य देव वासुदेव हैं।

दूसरे 'तैजस' अहंकार से श्रोत्र (कान) त्वक् (त्वचा) चक्षु (नेत्र) जिह्वा (जीभ) घ्राण (नाक) ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक् (वाणी), हाथ, पाद (पैर) पायु (गुदा) उपस्थ (लिङ्ग, भग आदि नामों वाली जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके प्रवर्तक देव भी १० हैं, जो कि वैकारिक अहंकार से उत्पन्न होते हैं।

कान का देव दिशा है और त्वचा का वायु देव है, चक्षु (नेत्र) का सूर्य देव है, जिह्वा का वरुण देव है, और नासिका का अश्विनीकुमार देवता है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं, क्योंकि इनके द्वारा वस्तु का ज्ञान ही हो सकता है, किन्तु किसी प्रकार का कर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार वाणी का देव अग्नि है, हाथों का इन्द्र, पैरों का विष्णु, गुदा का यम, उपस्थ (जननेन्द्रिय) के प्रजापति देव हैं।

तीसरे भूतादि नामक अहंकार से सूक्ष्म पंचभूत (प्रकट) होते हैं, इन्हीं से स्थूल पंचभूतों की भी उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म भूतों का तन्मात्र नाम से भी व्यवहार किया जाता है। अर्थात् सर्व-प्रथम भूतादि अहंकार से शब्द तन्मात्रा होती है, उससे स्थूल आकाश और आकाश से स्पर्श तन्मात्रा उससे वायु, वायु से रूप तन्मात्रा उससे तेज, तेज से रस तन्मात्रा उससे जल और जल से गन्ध तन्मात्रा, उससे पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। ऐसे-प्रकृति १, महत्तत्त्व १, अहंकार १, मन१, इन्द्रियाँ १०, सूक्ष्मभूत ५ और स्थूलभूत ५। इन २४ तत्त्वों का ही यह दृश्य जगत् है अर्थात् यह जितना भी अचेतन जगत् पहाड़, महल, मकान आदि तथा चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त समस्त प्राणियों के देह आदिक दीख रहा है, सो सब इन चौबीस तत्त्वों का ही परिणाम है। इन देहादिकों के अन्दर पच्चीवाँ तत्त्व जीव है ⋆।

⋆ श्रुति में भी कहा है कि-"पंचविंशोयं पुरुषः" पंचविंश आत्मा भवति। अर्थात् इस प्राकृत देह में पच्चीसवाँ तत्त्व जीव है। इन उपरोक्त तत्त्वों का उत्पत्तिक्रम अन्यत्र स्मृति में भी इसी प्रकार से कहा है।

यथा:-

भूतानि च कवर्गेण चवर्गेणेन्द्रियाणि च।
टवर्गेण तवर्गेण ज्ञानगन्धादयस्तथा॥
मनः पकारेणैवोक्तं फकारेणत्वहंकृतिः।
बकारेण भकारेण महान्प्रकृतिरुच्यते॥
आत्मातु स मकारेण पंचविंशः प्रकीर्तितः॥

और छब्बीसवाँ तत्त्व अनन्त रूप से सर्वत्र व्यापक होकर स्थित रहने वाला परमात्मा है। इसलिये जब तक इन चौबीसों अचेतन तत्त्वों का और जीव का सम्बन्ध है, तब तक इन तत्त्वों के देवता भी इन्हीं देहादिक पिण्डों में रहते हैं, किन्तु वे सूक्ष्म होने के कारण देहों की भाँति नेत्रों से नहीं दीख सकते। यदि भगवत्कृपा से दिव्य चक्षु मिल जायें तो वे सूक्ष्म पदार्थ भी स्थूल पदार्थों की भाँति दृष्टिगत हो सकते हैं, अथवा जिसको भगवान् स्वयं अपना विराट्स्वरूप दिखलाना चाहें उसको उनका प्रत्यक्ष हो सकता है। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने पहिले श्रीश्रीनिवासाचार्य को सब तत्त्वों का शब्दज्ञान कराया, फिर विराट् रूप दिखलाकर उनका प्रत्यक्ष करवाया। अत: श्रीनिवासाचार्य ने श्रीनिम्बार्क भगवान् के शरीरान्तर्गत जो–जो देखा था, श्रीऔदुम्बरा-चार्यजी ने उनका ही यहाँ से वर्णन करना आरम्भ किया है। अर्थात् सर्वप्रथम 'नाभि स्थानीय चित्त' में उसके प्रवर्त्तक देव क्षेत्रज्ञ के साथ–साथ वासुदेव को श्रीश्रीनिवासाचार्यजी ने देखा।

य: पर: प्रकृते: प्रोक्त: पुरुष: पंचविंशक:।
स एव सर्वभूतात्मा नर इत्यभिधीयते॥
आत्मा शुद्धोऽक्षर: शान्तो निर्गुण: प्रकृते: पर:।
प्रवृध्यपचयौनास्य एकस्याखिलजन्तुषु॥
पिण्ड: पृथग्यत: पुंस: शिर: पाण्यादिलक्षण:।
ततोहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन्करोम्यहम्॥
किन्त्वमेतच्छिर: किन्तु शिरस्तव तथोदरम्।
किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत्किं महीपते!॥
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूतो व्यवस्थित:।
कोहमित्येव निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव॥
पंचभूतात्मके देहे देही मोह तमोवृत:।
अहं ममैतदित्युच्चै: कुरुते कुमतिर्मतिम्॥
आकाशवाय्वग्निजल पृथिवीभ्य: पृथक्स्थिते।
अनात्मन्यात्मभावं वा क: करोति कलेवरे ॥इति॥

चन्द्रानिरुद्धौतु मनस्यपश्यं प्रद्युम्नकञ्जप्रभवौतु बुद्धौ।
सङ्कर्षणं रुद्रमहंकृतौ तूपास्याधिदैवे क्रमशो यथार्हम्॥१४३॥
विज्ञानसङ्कल्पविकल्पवित्तिविश्वड्ङहन्ताममतासुयुक्तम्।
मामग्रहीस्त्वं चतुरंतरीहैर्ग्राह्यं स्वशो वा करणैः पृथक् च॥१४४॥

तु (फिर) मनसि (मन में) चन्द्रानिरुद्धौ (चन्द्र और अनिरुद्ध को) तु (और) बुद्धौ (बुद्धि में) प्रद्युम्नकञ्जप्रभवौ (प्रद्युम्न और ब्रह्मा को) तु (और) अहङ्कृतौ (अहंकार में) सङ्कर्षण (सङ्कर्षण) रुद्रं (शंकर को) यथार्हं (यथोचित् स्थानों में) क्रमशः (क्रमानुसार) उपास्याधिदैवे (उन–उन स्थानों में उपास्य और अधिष्ठाता दोनों प्रकार के देवों को) "मैंने देखा" च (और) चतुरन्तरीहैः (चारों आभ्यन्तर चेष्टा वाले) करणैः (करणों से) स्वशः (अपने–अपने) विज्ञानसङ्कल्पविकल्पवित्ति विश्वङ्डहंता ममतासु (विज्ञान, सङ्कल्प विकल्प, निश्चय और गर्व इन अन्तःकरणों के धर्मों में) युक्तम् (सम्मिश्रित) वा (और) पृथक् (विभिन्न) "रूप से" ग्राह्यम् (ग्रहण करने योग्य) मां (मुझको) त्वं (आपने) अग्रहीः (ग्रहण किया) ॥१४३॥१४४॥

अर्थः–कवर्ग से पाँच भूत, चवर्ग से इन्द्रियाँ और टवर्ग और तवर्ग से ज्ञान–गन्धादिक गुण, पकार से मन, फकार से अहंकार और बकार से महत्तत्त्व, भकार से प्रकृति–कहते हैं। जो आत्मा है वह पच्चीस वाँ पुरुष मकार रूप है। वह आत्मा प्रकृति से पर–पच्चीसवीं संख्या वाला है। उसको सम्पूर्ण भूतों का आत्मा और "नर" भी कहते हैं। वह आत्मा शुद्ध अक्षर अर्थात् क्षरण स्वभाव रहित (विकार रहित) शान्त निर्गुण और प्रकृति से पर है। सम्पूर्ण जन्तुओं में वह एक है और उसका वृद्धि और ह्रास (घटना बढ़ना) नहीं होता है। इससे यह पिण्ड (शरीर) पृथक् है। शिर और हाथ पाँव आदि वाला शरीर पृथक् है। जब शरीर से अहं अर्थभूत आत्मा पृथक् है तब हे राजन्! तुम शरीर में अहंकार क्यों करते हो। क्या तुम शिर रूप हो, अथवा यह शिर तुम्हारा है। क्या यह उदर रूप तुम हो, या यह तुम्हारा है? क्या पादादिक रूप तुम हो कि ये तुम्हारे हैं? इस समस्त शरीर के अवयवों (हिस्सों) से तुम पृथक्भूत हो। अतः कुशल पुरुष इस पंच–भूत स्वरूप तथा मोहरूपी अन्धकार से आवृत

हे प्रभो! मन में मैंने मन के अधिष्ठाता देव चन्द्रमा और मन के अन्दर उपासना करने योग्य देव अनिरुद्ध का साक्षात्कार किया। एवं बुद्धि में बुद्धि के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा और बुद्धि के उपास्य प्रद्युम्न इन दोनों देवों का साक्षात्कार किया। एवं अहंकार में अहंकार के अधिष्ठाता देव रुद्र और अहंकार में उपासना करने योग्य देव संकर्षण को देखा। एवं जिन चारों आन्तरिक करणों (मन–बुद्धि–चित्त अहंकारों) से आपने मुझको अपनाया है, उनमें क्रम से बुद्धि में विज्ञान, मन में सङ्कल्प–विकल्प, चित्त में चिन्तन, अहंकार में विश्व विषयक अहंता ममता इन अन्त:करण के धर्मों से युक्त अपनाने योग्य मुझ किंकर को अन्त:करण की चारों वृत्तियों से विभक्त बना, अनुग्रहीत बनाया अर्थात् अन्त:करण के धर्मों में आत्माभिनिवेश रखने वाले मुझको, उनसे पृथक् कर अपने आत्मस्वरूप का बोध करवाया।

श्रोत्रे दिशस्ते त्वचिवायुमैक्षे नेत्रे तु सूर्यं वरुणं रसज्ञे।
नस्याऽश्विनेयौ विषयैस्तु युक्तं संशब्दसंस्पर्शसुरूपलेहैः ॥१४५॥
गन्धेन विज्ञेन्द्रिय वर्गतो मां त्वं त्वग्रहीर्विश्वशरीर ? तद्वत्।

देह में कभी अहंता ममता नहीं करता। केवल कुमति पुरुष ही अहंता ममता करता है। अर्थात् आकाश–वायु–अग्नि–जल–पृथ्वी से उत्पन्न इस पंचभूत अनात्मस्वरूप कलेवर (शरीर) में आत्मभाव कौन करता है? अर्थात् बुद्धिमान कोई भी नहीं कर सकता।

'अकारो वासुदेव:स्यात्' इस एकाक्षरी कोश में अकार को वासुदेव माना है। 'अक्षराणामकारोस्मि' इस गीता वचन में भगवान् ने मकार को अपना स्वरूप वर्णन किया है। "अब्रह्म" इस श्रुति ने भी अकार को ब्रह्म स्वरूप माना है। आशय यह है कि जिस प्रकार अकार सब अक्षरों में व्यापक है। उसी प्रकार परमात्मा सब में व्यापक है एवं चौवीस तत्त्वों का भौतिक शरीर और उसमें रहने वाला पच्चीसवाँ आत्मतत्त्व इन दोनों में २६ वाँ तत्त्व परमात्मा है, जिसको श्रुतियों ने प्रेरिता कहा है, वह व्यापक रूप से रहता है।

इसी आशय को भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने मन्त्रार्थ रहस्य में "अकारार्थो हरिप्रोक्त:" तथा–"मकारार्थो जीव जातो विज्ञेयो वैष्णवोत्तमै:" इन पंक्तियों में प्रकट किया है।

तु (फिर,) संशब्दसंस्पर्शसुरूपलेहैः (स्पष्ट शब्द और स्पर्श एवं रूप तथा आस्वादन, इन) विषयैः (विषयों से) युक्तं (सम्मिलित) (क्रम पूर्वक) ते (तुम्हारे) श्रोत्रे (कर्णेन्द्रिय में) दिशः (दिशाओं को) त्वचि (त्वचा में) वायुं (वायु को) नेत्रे (नेत्रेन्द्रिय में) सूर्यं (सूर्य को) रसज्ञे (जिह्वा में) वरुणम् (वरुण को) तु (और) गन्धेन (गन्ध सहित) नसि (नासिका में) आश्विनेयौ (दोनों अश्विनी कुमारों को) ऐक्षे (मैंने देखा) विश्व शरीर (हे विराट् स्वरूप!) तु (फिर) तद्वत् (अन्तःकरण के सदृश) विज्ञेन्द्रियवर्गतः (ज्ञानेन्द्रियों के समुदाय से) मां (मुझको) त्वं (आपने) अग्रहीः (अपनाया) ॥१४५ ॥१४६ ॥

आपके आन्तरिक करणों और तत्तत्करणों के धर्म और प्रवर्त्तक तथा उपास्यदेवों को देखने के अनन्तर आपकी वाह्य इन्द्रियों में भी उसी प्रकार धर्मों तथा प्रवर्त्तक देवों का मैंने साक्षात्कार किया, जैसे कि शब्द विषय के ग्राहक दिक् देवता को आपके कानों में और स्पर्श विषय के ग्राहक वायुदेव को आपकी त्वचा में एवं रूप विषय के ग्राहक सूर्यदेव को आपके नेत्रों में और आस्वादन विषय के ग्राहक वरुणदेव को आपकी जिह्वा में एवं गन्ध विषय के ग्राहक अश्विनी कुमारों को आपकी नासिका में मैंने देखा। हे विराट स्वरूप! फिर जैसे आन्तरिक इन्द्रियों से मुझको आपने पृथक् किया था, उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के समुदाय से और उनके विषयों से मुझको पृथक् कर आपने अनुगृहीत बनाया ॥१४५ ॥१४५ ॥

वाच्यग्निमिन्द्रं करयोश्च विष्णुमङ्घ्र्योरुपस्थे कमहं त्वपश्यम्॥१४६॥
मृत्युं गुदे सूक्तिकृतीतिकोत्सर्गैः संयुक्तं कर्मवदिन्द्रियैर्माम्।
तैस्त्वग्रहीरं शुभवैश्च देवैः स्वांङ्गांतरुस्त्रैर्हितदंशसक्तम्॥१४७॥

तु (फिर) सूक्तिकृतीतिकोत्सर्गैः (वाणी, कृति, गमन, आनन्द, उत्सर्जन इन विषयों सहित) अहं (मैंने) वाचि (वाणी में) अग्निं (अग्नि को) च (और) करयोः (हाथों में) इन्द्रम् (इन्द्र को) अङ्घ्र्योः (पैरो में) विष्णुम् (विष्णु को) उपस्थे (जननेन्द्रिय में) कं (प्रजापति

को) गुदे (गुदा में) मृत्युम् (मृत्यु को) अपश्यम् (देखा) तु (किन्तु) कर्मवदिन्द्रियै: (कर्मकारिणी इन्द्रियों से) संयुतम् (संयुक्त) च (और) तदंशसक्तम् (उन्हीं इन्द्रियों में आत्मभाव मानने वाले) मां (मुझको) स्वांगान्त: (अपने अङ्ग के अन्दर) अंशुभवै: (किरणों के द्वारा आविर्भूत होने वाले) तै: (उन अग्नि आदिक) उस्रै: (दिव्य) देवै: (देवों के द्वारा) अग्रही: (आपने ग्रहण किया) ॥१४६ ॥१४७ ॥

हे प्रभो! पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानेन्द्रियों में विषयों सहित उनके देवों का मैंने साक्षात्कार किया, अर्थात् भाषणपूर्वक अग्निदेव को वाणी में, और कृतिपूर्वक इन्द्रदेव को हाथों में, गमनपूर्वक विष्णुदेव को, पैरों में, आनन्दपूर्वक प्रजापति देव को, जननेन्द्रिय में और उत्सर्जन पूर्वक मृत्युदेव को गुदा में मैंने देखा। किन्तु उन कर्मेन्द्रियों से संयुक्त और उनमें आत्मभाव रखने वाले मुझको अपने अङ्ग के अन्दर किरणों के द्वारा आविर्भूत होने वाले उन अग्नि आदिक दिव्य देवों के द्वारा आपने ग्रहण किया ॥१४६ ॥१४७ ॥

व्याने तु नागं च समानमैक्षे कूर्मं ह्युदाने कृकलं समाक्तम्।
प्राणेत्वहं किल देवदत्तं भूमँस्त्वपाने हि धनञ्जयं च ॥ १४८ ॥

तु (ऐसे ही) भूमन् (हे व्यापक!) ते (तुम्हारे) व्याने (व्यान नामक वायु में) समाक्तम् (मिले हुए) नागं (नाग नामक वायु को) अहं (मैंने) ऐक्षे (देखा) च (फिर) समाने (समान वायु में) कूर्मं (कूर्म को) उदाने (उदान वायु में) कृकलम् (कृकल वायु को) तु (फिर) प्राणे (प्राणवायु में) देवदत्तम् (देवदत्त वायु को) तु (फिर) अपाने (अपान वायु में) धनञ्जयम् (धनञ्जय को) हि (निश्चित रूप से) अहम् (मैंने) ऐक्षे (देखा) ॥१४८ ॥

हे प्रभो! वाह्येन्द्रियों के देवों का साक्षात्कार कर फिर मैंने आपके पाँचों प्राणों का साक्षात्कार किया, कोई-कोई मतान्तर वाले जो पाँच वायु अन्य मानते हैं, उनका भी मैंने इन्हीं में समावेश देखा, अर्थात्

आपके इस विस्तृत ब्रह्माण्डमय शरीरस्थ व्यान वायु में मिले हुए नाग वायु को और समान वायु में मिले हुए कूर्म वायु को एवं उदान वायु में मिले हुए कृकल वायु को तथा प्राण वायु में मिले हुए देवदत्त को और अपान वायु में मिले हुए धनञ्जय को देखा।

तात्पर्य यह है कि ऋषि श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने इस 'श्रीनिम्बार्क–विक्रान्ति' में श्रीनिम्बार्क भगवान् के स्वरूप–गुण और लीलाओं के वर्णन के साथ–साथ श्रीनिम्बार्क भगवान् के सिद्धान्त और रहस्य का भी वर्णन करना लोकोपयोगी माना। अतः उन दोनों की भी अपने शब्दों में गम्भीर रूप से अभिव्यक्ति की है, जिनमें से रहस्य तत्त्व गोपनीय होने के कारण बहुत संक्षेप रूप से पहिले १२५–१२६ श्लोक में कह चुके हैं। अब शास्त्रीय सिद्धान्त का यहाँ १४१ वें श्लोक से आरम्भ किया है जिसको कि प्रायः २१० वें श्लोक तक समाप्त करेंगे। अभी तक ८ श्लोकों से केवल मन बुद्धि चित्त, अहंकार इन चारों आन्तरिक करण एवं उनके धर्म और प्रवर्त्तक देव तथा उनमें उपासनीय देव एवं वाह्य इन्द्रियों के देव और कार्यों का तथा पाँचों प्राणों का वर्णन किया गया है। श्रीनिम्बार्क भगवान् के सिद्धान्त से पाँच ही प्राण अभिमत हैं, किन्तु जिनके मत में नाग आदिक ये पाँच भेद प्राण के और माने गये हैं, उनका भी इन्हीं पाँचों में समावेश दिखला दिया है। यह विषय 'वेदान्त रत्न मंजूषा' से भी यहाँ स्पष्टतया उल्लिखित किया गया है, क्योंकि वहाँ केवल प्राणादि पाँचों का अंगीकार और नाग आदि पाँचों का अनभ्युपगम रूप से ही उल्लेख मिलता है। दश प्राणों को पाँच ही प्राणों में समावेश करने की प्रणाली श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने सुन्दर रूप से प्रकट की है॥१४८॥

व्यानादिसंसक्तमनुक्रमेण नागादिभिस्त्वं पृथगग्रहीर्माम्।
श्रोत्रोक्तिसञ्चारसमाहितं तु व्यानेन नागेन नियम्यनुद्धयाम्॥१४९॥
त्वक्पाणिसञ्चारसमायुतं समानेन कूर्मेणमदीश तद्वत्।
दृक्पादसञ्चारसरूपितं तूदानेन जिष्णो कृकलेन चालाः॥१५०॥

लिट्शिश्नसञ्चारसमानतेतंत्वं देवदत्तेन तुमातिसूक्ष्मम्।
प्राणेन विश्वात्मसमाधिनिष्ठो नः पायुसञ्चारसमाधिरूढम्॥१५१॥
स्वामिन्नपानेन धनञ्जयेन मामग्रहीस्त्वं सविभागतश्च।

हे मदीश! (मेरे प्रभु!) त्वं (तुमने) व्यानादिसंसक्तं (व्यानादि प्राणों में आसक्त) माम् (मुझको) अनुक्रमेण (क्रमानुसार) नागादिभिः (नागादि प्राणों से) पृथक् (अलग कर) अग्रहीः (अनुग्रहीत किया) तु (जैसे कि) नियम्यनुद्भयाम् (नियमन और प्रेरण इन दोनों से) श्रोत्रोक्तिसञ्चारसमाहितम् (श्रवण और कथन के संचार में लगे हुए मुझको) व्यानेन नागेन (व्यान और नाग से) तद्वत् (उसी प्रकार) त्वक्पाणिसञ्चारसमायुतं (त्वचा और वाणी के संचार में लगे मुझको (समानेनकूर्मेण (समान मिश्रित कूर्म से) तु (और) जिष्णो (हे जिष्णो!) दृक्पादसञ्चारसरूपितं (दृष्टि और पैरों के संचार में संलीन मुझको) उदानेन (उदान से) च (और) कृकलेन (कृकल से) अलाः (तुमने पृथक् कर शरण में लिया) तु (फिर) लिट्शिश्नसञ्चार समानतेतं (जिह्वा और उपस्थ के संचार में सम्मिलित हो चुकने वाले) अतिसूक्ष्मं (अणुरूप) मां (मुझको) देवदत्तेन (देवदत्त वायु से) तु (और) प्राणेन (प्राणवायु से) पृथक् ग्रहण कर सुरक्षित रखा) विश्वात्मसमाधिनिष्ठः (संसार की समस्त आत्माओं में स्थित रहने वाले) नः (हम सभी के) स्वामिन् (हे स्वामिन्) पायु संचार समाधिरूढ (गुदा के सञ्चार में संलग्न मुझ अज्ञ को) धनञ्जयेन (धनञ्जय से) च (और) अपानेन (अपान वायु से) सविभागतः (विभक्त कर अनुगृहीत किया) ॥१४९॥१५०॥१५१॥

हे मदीश! आपने व्यानादि प्राणों में आसक्त मुझ आपके किंकर को क्रम से नागादि प्राणों के द्वारा पृथक् कर अनुगृहीत किया। अर्थात् प्रथम नियमन किया, फिर प्रेरित कर श्रवण और कथन सम्बन्धी व्यापार में लगे हुए मुझको व्यानमिश्रित (व्यान वायु में अन्तर्लीन) नागवायु से पृथक् कर अनुगृहीत किया उसी प्रकार त्वचा और पाणी

अर्थात् हाथों के व्यापार में लगे हुए मुझको समान मिश्रित कूर्मवायु से पृथक् कर अनुगृहीत किया, एवं हे जिष्णो! दृष्टि और पैरों के व्यापार में संलग्न रहने वाले मुझको आपने उदान मिश्रित कृकल वायु से पृथक् कर अनुगृहीत किया। फिर जिह्वा और शिश्नेन्द्रिय के व्यापार में आसक्त रहने वाले मुझको समस्त प्राणियों के चित्त में निवास करने वाले आपने प्राणान्तर्गत देवदत्त वायु से पृथक् कर अनुकम्पित बनाया। इसी प्रकार हे स्वामिन्! नासिका और पायु (गुदा) इन्द्रिय के व्यापार में आसक्त मुझको आपने अपानाश्रित धनञ्जय वायु से विभक्त कर अनुगृहीत किया।

तात्पर्य यह है कि, इन्द्रियों के व्यापार प्राणों के ही आधीन हैं, जब इन्द्रियों के देवता इन्द्रियों के द्वारा भोग्य विषयों को भोगना चाहते हैं, तब वे इन्द्रियों को प्रवृत्त करते हैं। परन्तु समस्त शरीररूपी किले के अन्दर रहने वाले इन्द्रियादिक जितने भी सैनिक हैं, उन सब के सेनापति प्राण ही हैं जिसके भिन्न–भिन्न स्थानों में रहने के कारण पाँच भेद माने गये हैं। मतान्तरों में माने हुए नागादिक पाँच अधिक प्राणों का भी प्राणादिक पाँच में ही अन्तर्भाव १४७ वें श्लोक में बतला दिया है। अत: श्रवणेन्द्रिय और वाणी को अपने विषयों में बढ़ाने वाले व्यान और नाग वायु हैं, इसलिये उन दोनों से विभिन्न कर आपने मुझे शब्द विषय से विरक्त बनाया। इसी प्रकार त्वचा और हाथों को आगे बढ़ाने वाले समान और कूर्म वायु से विभिन्न कर स्पर्श विषय से विरक्त बनाया और नेत्र और पैरों को प्रवृत्त करने वाले उदान और कृकल से विभिन्न कर रूप विषय से विरक्त बनाया। एवं जिह्वा और शिश्नेन्द्रिय (लिङ्ग को प्रवृत्त करने वाले प्राण और देवदत्त से विभिन्न कर "रस" विषय से विरक्त बनाया। और नासिका और गुदा को प्रवृत्त करने वाले अपान और धनञ्जय से विभिन्न कर "गन्ध" विषय से विरक्त बना दिया। अर्थात् दशों इन्द्रियों के व्यापार की आसक्ति से रहित कर मुझको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। कारण आपके इस विराट् स्वरूप के दर्शनों में लगे हुए मेरे इन्द्रिय प्राणादिकों को अब और दूसरा कोई दृश्य अच्छा नहीं लगता ॥१४९ ॥१५० ॥१५१ ॥

शब्दे नभस्ते पवनं त्वपश्यं स्पर्शे हि रूपे निजकाशतेजः ॥१५२॥
अम्भो रसेऽहं पृथिवीं च गन्धे विश्वात्मधारेण जितं जितंते।
लोभं तु भुक्तग्रहणे च काममैक्षे हि सद्भक्तवरप्रदाने॥१५३॥
क्रोधं त्वसत्संहतितश्च मोहं सद्भक्तवात्सल्य अनन्तसेविन्।
संशुद्धसदृष्ट? अघेक्षणाकांक्षायां भयं वातजनुः प्रसारे॥१५४॥
तं चण्डवेगं प्रतिधावने ते संमन्दसञ्चारमये क्षितर्त्तौ।
तद्ग्रन्थिमैक्षे च परिभ्रमे ते नैश्चल्यमादेऽचलकुम्भके वै॥१५५॥
त्वद्योगनिद्रात ऋषीश? निद्रां भक्तप्रसंगेजनसङ्गतिं ते।
आलस्यमालोक अनीहकत्वे नद्यादिशोषं तृषिते विभूमन्॥१५६॥

अनन्तसेविन् (हे अनन्त भगवान् के अन्तरंग उपासक) ते (तुम्हारे) शब्दे (शब्द में) नभः (आकाश को) अपश्यं (मैंने देखा) स्पर्शे (स्पर्श में) पवनं (पवन को) रूपे (रूप में) निजकाशतेजः (आपके प्रकाश रूप तेज को) रसे (रस में) अम्भः (जल को) गन्धे (गन्ध में) पृथिवीं (पृथ्वी को) भुक्त ग्रहणे (भगवत्प्रसादी के ग्रहण करने में) लोभं (लोभ को) सद्भक्तवरप्रदाने (सज्जन भक्तों को वर देने में) कामं (कामना को) (मैंने देखा) असत्संहतितः (दुष्टों के सहार करने में) क्रोधं (क्रोध को) तु (और) सद्भक्तवात्सल्ये (सज्जन भक्तों की प्रतिपालना में) मोहं (मोह की) संशुद्धसदृष्टे (हे शुद्ध और सत्य दृष्टि वाले?) अघेक्षणाकांक्षायां (पापों के विचार की इच्छा में) भयं (भय को) (मैंने देखा) "इस प्रकार" (विश्वाधारेण (संसार को धारण करने से) ते (आपकी) जितं-जितं (जय हो जय हो) ॥१५२॥१५३॥१५४॥

विभूमन् (हे विशिष्ट आनन्द स्वरूप? तु (फिर) बात जनुः प्रसारे (वायु से उत्पन्न होने वाले विस्तृत) प्रतिधावने (दौड़ने में) ते (तुम्हारे) तं (उस) चण्डवेगं (प्रचण्ड वेग को) क्षितर्त्तौ (ऋतुओं के अनुसार) अये (टहलने में) संमन्दसञ्चारम् (सुन्दर मन्द-मन्द गति को) परिभ्रमे (परिभ्रमण में) तद्ग्रन्थिं (गति के घुमाव आदि प्रभेद को) च (और) आदे! (हे सर्वादिरूप) अचलकुम्भ के (निश्चल)

कुम्भक (समाधि) में) ते (आपके) नैश्चल्यं (अचलत्व को) त्वद्योगनिद्रात: (आपकी योग-निद्रा में) निद्रां (समस्त प्राणियों की निद्रा को) ऋषीश (हे ऋषियों के अधिपति ?) भक्त प्रसंगे (भगवद्भक्तों के प्रसंग में) ते (आपकी) जनसंगतिं (बैठक-गोष्ठी को) अनीहकत्वे (निश्चेष्ट) आलोके (प्रकाश में) आलस्यम् (आलस्य को) तृषिते (पिपासित रहने पर) नद्यादि शोषं (नदी आदिक जलाशयों को सुखाने वाली क्रिया को) ऐक्षे (मैंने देखा) ॥१५५॥१५६॥

हे अनन्त भगवान् श्रीराधा सर्वेश्वर के अन्तरंग उपासक ! आपके शब्द में भरे हुए समस्त आकाश, स्पर्श में वायु, रूप में तेज, रस में समस्त जल (जलाशय), गन्ध में पृथ्वी, भगवत्प्रसाद ग्रहण करने में लोभ, श्रेष्ठ भक्तों को वर देने में कामना, दुष्टों के संहार करने में क्रोध, और सज्जन जनों की पालना करने में मोह और सर्वत्र शुद्ध और सत्य दृष्टि रखने वाले हे प्रभो ? पापों के विचार की आकांक्षा (अभिलाषा) में भय को मैंने देखा। अत: समस्त जगत् को अपने अन्दर धारण करने वाले आपकी जय हो! जय हो!! ॥१५२॥१५३॥१५४॥

मानसिक भावों की स्थति प्रवृत्ति तथा उनके व्यापारों का वर्णन करने के अनन्तर अब यहाँ से शारीरिक व्यापारों का वर्णन किया जाता है। अर्थात् हे प्रभो! आपकी तीव्रगति (दौड़ने) में प्रचण्ड वेग टहलने में मन्द गति, भ्रमण करने में विचित्र घुमाव और हे सर्व जगत् के आदि स्वरूप! निश्चल कुम्भक अर्थात् समाधि में आपकी स्थिरता को मैं देख रहा हूँ। इसी प्रकार आपको शयन करते ही समस्त ऋषीश्वरों को सोये हुए देखता हूँ। भक्त-मण्डली में ही आपकी जनगोष्ठी (प्राणियों से बातचीत करना) देखता हूँ। और निश्चेष्ट प्रकाश अर्थात् समाधि के समय में सांसारिक कारोबार सम्बन्धी आलस्य को देखता हूँ। अर्थात् जब सत्त्वगुणमयी ध्यानीय वेला हो तभी आपके देह सम्बन्धी व्यापारों का उपराम होता है, जब कि आप समाधिस्थ होते हैं एवञ्च आपकी तृषा में नदी आदिक जलाशयों के

संशोषण को मैं देखता हूँ अर्थात् विशिष्ट पुनीत भूमि के सूखते ही आप नदी आदि जलाशयों का शोषण करते हैं, जलाशयों से सूर्य में रहने वाली अपनी रश्मियों द्वारा पानी खैंचकर उस पानी की मेघों द्वारा उस भूमि पर वर्षा करवाते हैं, जहाँ पर कि, सज्जन जन पानी के लिये अत्यन्त दु:खी हो रहे हों ॥१५५ ॥१५६ ॥

प्रकारान्तर से इन श्लोकों का दूसरा एक आशय यह भी प्रकट होता है कि, हे प्रभो! आज विराट् रूप के दर्शन करने से मुझको यह प्रत्यक्ष हो गया कि, शब्द तन्मात्रा से ही आकाश उत्पन्न होता है, और आकाश से स्पर्शतन्मात्रा तथा स्पर्शतन्मात्रा से वायु प्रकट होता है, वायु से रूप तन्मात्रा उससे तेज, तेज से रसतन्मात्रा और उससे जल, जल से गन्ध तन्मात्रा और उससे पृथ्वी, इस प्रकार का जो सृष्टि का क्रम शास्त्रों में सुना जाता है, उसको आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसी प्रकार लोभ आदिक भी समस्त वस्तु मात्र आपके शरीर के अन्तर्गत ही देखता हूँ, क्योंकि आपने समस्त संसार को ही धारण कर रखा है। अत: फिर लोभादिक कहाँ जा सकते हैं, परन्तु इन लोभादिकों की आपके शरीर में स्थिति देखने से मुझ को यह निश्चित हुआ है कि, भगवत्प्रसाद लेने में ही लोभ रखना, सज्जनों के हित के लिये ही इच्छायें करना, दुष्टों पर ही क्रोध करना, सज्जनों में ही मोह करना, अर्थात् मोह बिना कोई किसी की पालना नहीं कर सकता, परन्तु वह मोह सद्भक्तों की पालना में ही रखना चाहिये- ये एवं पापों के विचार की रुचि में सर्वदा डरते ही रहना चाहिये। इसी प्रकार और भी कईएक भाव इन श्लोकों से अभिव्यक्त होते हैं।

वन्यादिदाहं क्षुधि तु प्रलीनः प्रस्वेद आलोकविनिर्झराँस्ते।
शुक्रे तु वृष्टिं सुरदेहकस्य क्षाराम्बुरक्ते सकलाश्रयस्थ ॥१५७॥
मूत्रे प्रवाहान् खलु पर्वतान्तस्स्थाम्भांसिमज्जात उरुक्रमस्य।
पृथ्वीरुहान् रोमसु शुभ्ररेणूँ स्त्वक्ते शिरारोधसि पङ्कमैक्षे ॥१५८॥

सकलाश्रयस्थ (हे समस्त जगत् के अन्तर्यामी) प्रलीनः (आपके ही अन्दर लीन रहते हुए मैंने) ते (आपकी) क्षुधि (भूख में) वन्यादिदाहं (वन आदि के दाह को) (और) प्रस्वेदे (पसीने में) आलोकविनिर्झरान् (स्वच्छ झरनों को) सुरदेहकस्य (दिव्य देह सम्बन्धी) "आपके" शुक्रे (वीर्य में) वृष्टिं (वृष्टि को) रक्ते (खून में) क्षाराम्बु (खारे पानी को) मूत्रे (पेशाब –मूत्र) में) प्रवाहान् (नदी आदि के प्रवाहों को) उरुक्रमस्य (प्रबल विक्रमशाली आपकी) मज्जातः (मज्जा में) पर्वतान्तस्स्थाम्भांसि (पर्वतों के अन्दर स्थित रहने वाले जल को) रोमसु (बालों में) पृथ्वीरुहान् (वृक्षों को) शुभ्ररेणून् (चमकपूर्ण रजसमूह को) अक्ते (आपकी किरणों में) तु (एवम्) शिरारोधसि (शिराओं की तटों में) पङ्कं (कीचड़ को) ऐक्षे (मैंने देखा) ॥१५७॥१५८॥

हे समस्त संसार के अन्दर अन्तर्यामी रूप से स्थित रहने वाले, अथवा समस्त जगत् के आश्रयों को अपने आश्रित रखने वाले प्रभो! आप के अन्दर लीन रहते हुये मैंने आप की क्षुधा में बनजंगल आदि के दाह को होता हुआ देखा। एवं आपके पसीने में बड़े-बड़े स्वच्छ जल वाले झरनों को झरते हुये देख रहा हूँ और आपके दिव्य देह सम्बन्धी वीर्य (पराक्रम) में वर्षा होती हुई देख रहा हूँ, अर्थात् जिस वर्षा के लिये समस्त प्राणी लालायित रहते हैं और आश्चर्य किया करते हैं कि, यह वर्षा कहाँ से आती है और कैसे होती है? और कौन इसको करता है? उसी वर्षा को मैं आपके शुक्र अर्थात् पराक्रम में प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और आपके जल में क्षार जल (समुद्रादिक के समस्त पानी) को देख रहा हूँ। मूत्र में नदी आदिक बहने वाले स्रोतों को और प्रबल पराक्रम वाली आपकी मज्जा में पर्वतों के अन्दर रहने वाले पानी को, रोमावली में वृक्ष लताओं के समूह को, एवं प्रभावशाली किरणों में चमकीली धूलि के ढेरों को एवं गीली शिराओं के आजू-वाजू के हिस्सों में कीचड़ को मैं देख रहा हूँ॥१५७॥१५८॥

मांसे तु वै कर्दममस्थिनशैलान् वाणीं परां ते श्रवणेन्तरद्धा।
नाभौ तथायुक्तवपुस्तु पश्यन्तीं मध्यमान्ते हृदिवैखरीं तु॥१५९॥
आस्ये स्वसन्तापनिषेचके तु सर्वस्वभावे हि मदात्मदृष्टिम्।
स्पर्शं दुरिद्धे समपश्यमुष्णं शीघ्रे लघुं गौरवतो गुरुं ते॥१६०॥

तु (फिर) ते (आपके) मांसे (मांस में) कर्दमम् (कीचको) अस्थिन (हड्डियों के समुदाय में) शैलान् (पहाड़ों को) तु (ओर) अन्तः (आन्तरिक) श्रवणे (सुनाई में) वै (निश्चित) अद्धा (स्वीकृत) परां (परा) वाणीं (वाणी को) "और" नाभौ (नाभी में) पश्यन्तीं (पश्यन्ती नामक वाणी को) ते (आपके) हृदि (हृदय में) मध्यमां (मध्यमा नामक वाणी को) तु (और) स्वसन्तापनिषेचके (अपने भक्तों के सन्ताप को शान्त बनाने वाले) आस्ये (मुखारविन्द में) वैखरीं (वैखरी नामक वाणी को) तु (और) सर्वस्वभावे (सर्वात्म भाव में) हि (निश्चित रूप से) मदात्मदृष्टिम् (स्वात्म दृष्टि को) तु (और) ते (आपके) दुरिद्धे (प्रखर प्रकाश में) उष्णं (उष्ण) स्पर्शं (स्पर्श को) तथा (उसी प्रकार) शीघ्रे (शीघ्रता में) लघुं (लाघवता को) "और" ते (आपकी) गौरवतः (गुरुता में) गुरुं (गुरुत्व को) युक्तवपुः (शरीर युक्त रहते हुये ही) समपश्यम् (मैंने देखा) ॥१५९॥१६०॥

भावार्थ-हे विश्वाधार! पङ्कादि के अनन्तर आपके मांस में कर्दम रूपी अर्थात् घनीभूत पङ्क को और हड्डियों के समुदाय में पहाड़ों को एवं आन्तरिक श्रवण अर्थात् अलौकिक श्रवण रूपी अनुभव में निश्चित रूप से स्वीकृत की हुई परा वाणी का साक्षात्कार किया, जो कि मूलाधार से उद्भूत होती है और योगज शक्ति के बिना जिसका कोई भी प्राणी अनुभव नहीं कर सकता, उसी वाणी का मैंने आपके योगज श्रवण में अनुभव किया। आपके हृदय में मध्यमा नामक वाणी का एवं अपने संतप्त भक्तजनों की सन्तप्तता को शीतल बनाने वाले आपके मुखारविन्द में वैखरी नामक वाणी का साक्षात्कार किया। उपरोक्त प्रकार से चारों वाणियों का अनुभव कर आपकी समदृष्टि

एवं सर्वत्र आत्मभाव प्रदर्शित करने वाली वृत्ति में स्वकीयत्व दृष्टि को और दुष्टों को तपाने योग्य आपके प्रकाश में उष्ण स्पर्श को तथा आपकी शीघ्रता में लाघवता को और गौरवता में गुरुत्व को इसी शरीर युक्त रहते हुये मैंने देखा ॥१५९ ॥१६० ॥

कृष्णं कनीने नखरेषु रक्तं दन्तेषु शुक्लं कपिशं तु केशे।
पीतं च चित्रं हरितं शिरासु रूपं मयैकीकृतमैक्ष आप्त! ॥ १६१ ॥
माधुर्यतस्ते मधुरं प्रभेदैः क्षारं कटुं भक्षितधातुराशौ।
कोपांक्तनेत्रे तु कषायमुप्तं पित्तादिसाम्येषु तु तिक्तमम्लम् ॥ १६२ ॥
ऐक्षे रसं मत्सहितं धृतं वै गन्धं सदूतौ सुरभिं मयाक्तम्।
पूतिं कदूतावसुराञ्जिघांसो? क्षेत्रज्ञतश्चित्तमलाः स्वनेतुः ॥ १६३ ॥

आप्त (हे विश्वस्त उपदेशकारिन्) ते (आपकी) कनीने (नेत्रों की पुतली में) कृष्णं (श्माम) नखरेषु (नखों में) रक्तं (लाल) दन्तेषु (दाँतों में) शुक्लं (शुक्ल) केशे (केशों के समूह में) कपिशं (कपिश) शिरासु (शिराओं–नसों में) पीतं (पीले) चित्रं (चित्र, रंग विरंग) च (और) हरितं (हरे) मया (मेरे द्वारा) एकीकृतं (एक ही जगह एकत्रित किये हुए) रूपं (सभी रूपों को) ऐक्षे (मैंने देखा) ॥१६१ ॥

ते (आपकी) माधुर्यतः (मधुरता के अन्दर) प्रभेदैः (प्रभेदों के साथ–साथ) मधुरं (माधुर्य को) क्षारं (खारे) और कटुं (कडुए रस को) भक्षितधातुराशौ (भक्षण किये हुए धातुओं के समुदाय में) तु (और) कोपाङ्क्तनेत्रे (क्रोधयुक्त नेत्रों के कोनों में) उप्तं (बोये हुए) कषायं (कषाय कषैले रस को) तु (और) पित्तादि साम्येषु (पित्त आदि की समताओं में) तिक्तं (तिक्त, चरपरे) तु (और) अम्लम् (खट्टे) मत्सहितं (मेरे सहित) धृतं (धारण किये हुए) रसं (रस समुदाय को) ऐक्षे (मैंने देखा) ॥१६२ ॥

तु (और) सदूतौ (सत्कर्मों की वासना में) मया (मेरे द्वारा) अक्तम् (समर्चित) सुरभिं (सुगन्धित) गन्धं (गन्ध को) असुरान् (हे

असुरों को) जिघांसो ? (मारने की इच्छा रखने वाले आपकी) कदूतौ (कुत्सित ऊति में) पूतिं (दुर्गन्ध को) ऐक्षे (मैंने देखा) "और" स्वनेतुः (चित्त के नेता) क्षेत्रज्ञतः (क्षेत्रज्ञ के द्वारा) चित्तं (मदीय चित्त का) अलाः (मेरे लिये आपने प्रदान किया) ॥१६३॥

हे आप्त! (समुचित सुन्दर विश्वसनीय उपदेश करने वाले आपके नेत्रकमलों की कनिका (तारा) में समस्त जगत् में फैले हुए श्याम रूप को, नखों में लालरूप को, दाँतों में शुक्ल रूप को, केशों में कपिश रंग को, नसों में पीले-हरे और चित्र-विचित्र रूपको मैंने देखा। अर्थात् संसार के समस्त रूपों का आपके एक ही शरीर में साक्षात्कार किया। इसी प्रकार आप में रहने वाली मधुरता में प्रभेदों से युक्त समस्त जगत् की मधुरता का अनुभव किया और भक्षित धातु राशी अर्थात् भोजन किये हुए परिणाम रूपी रसधातु में समस्त खार और कटुता का साक्षात्कार किया। कोपयुक्त नेत्रों में गड़े हुए समस्त संसार के कषैले रस का और पित्तादि की समता में मेरे सहित धारण किये हुए तिक्त और अम्ल खट्टे रस का मैंने साक्षात्कार किया। और आपकी शुभ ऊति अर्थात् सत्कर्मों की वासना में मेरे द्वारा अनुभव की हुई गन्ध का और हे राक्षसों को विनष्ट करने की इच्छा वाले? आपकी कुत्सितऊति अर्थात् असत्कर्मों की वासना में दुर्गन्ध का साक्षात्कार किया॥१६१॥१६२॥१६३॥

श्रीनिम्बार्क भगवान् के विराट्स्वरूप में श्रीश्रीनिवासाचार्यजी ने जिस प्रकार से समस्त स्थूल सूक्ष्म द्रव्य गुण आदिक पदार्थों का साक्षात्कार किया था। उनका वर्णन कर, अब यहाँ से जिस प्रकार विराट् शरीर से प्रत्येक देह में मन बुद्धि आदि की प्राप्ति और मन बुद्धि अहंकारादिक आन्तरिक एवं श्रोत्रादिक बाहिरी कारणों से आत्मा की पृथक्ता होती है, उसका वर्णन किया जाता है।

"श्रीवासुदेवं धृतविश्वचित्ते क्षेत्रज्ञमादौ सह मे धृतश्च"

श्रीनिम्बार्क विक्रान्तिः श्लोक १४२

इस पद्य से विराट् स्वरूप दर्शन प्रसंग में सर्वप्रथम चित्त और उसके प्रवर्त्तक तथा अधिष्ठाता इन दोनों देवों का साक्षात्कार होना प्रकट किया गया है। अत: उसी क्रम के अनुसार यहाँ पर भी सर्व-प्रथम चित्त की प्राप्ति से ही आरम्भ करना उचित मानकर-

"क्षेत्रज्ञतश्चित्तमलाः स्वनेतुः"

इस पद से चित्त की प्राप्ति का वर्णन किया जाता है; कि हे प्रभो ? चित्त के अधिपति क्षेत्रज्ञ के सहित आपने मदन्तर्वर्ति यह चित्त प्रदान किया अर्थात् चिन्तनशक्ति-सम्पन्न क्षेत्रज्ञ सहित यह चित्त मुझको आप से ही प्राप्त है।

मन्मीलितां बुद्धिमजेन योगिन् ग्लवामनस्त्वं स्वधृतेन विद्वन्।
श्रीरुद्रतोऽहंकृतिलीनरूपं संसक्तकर्णं समलं दिशातः॥१६४॥
मां त्वज्विलीनं पवनेन चक्र? चक्षुर्विलीनं रविणान्ययच्छः।
जिह्वाविलीनं वरुणेन देव? नासाविलीनं चडवासुताभ्याम्॥१६५॥
अर्च्चिष्मता वाङ्मयमिन्द्रतो मां पाणिप्रसक्तं चरणानुकारम्।
श्रीविष्णुना शिश्नमयन्तुकेन पायुप्रलीनं मृतितो न्ययच्छः॥१६६॥

योगिन् (हे योगिन्) मम्मीलितां (मुझ में मिली हुई) बुद्धिं (बुद्धि को) त्वं (आपने) अजेन (ब्रह्मा के द्वारा) (और) विद्वन् (हे विद्वन्) स्वधृतेन (अपने द्वारा धारण किये हुए) ग्लावा (चन्द्रमा से) मनः (मनको) मेरे लिये प्रदान किया "एवं अहंकृतिलीनरूपं (अहंकार में लीन रहने वाले मेरे स्वरूप का) श्रीरुद्रतः (श्रीशंकर के द्वारा) (तथा) संसक्तकर्णम् (कर्णेन्द्रिय में सम्मिश्रित) मां (मेरे रूप का) दिशातः (दिशाओं से) एवञ्च जिह्वा-विलीनं (जिह्वा में विलीन रहने वाले स्वरूप का) वरुणेन (वरुण देव के द्वारा) नासाविलीनं (नासिका में विलीन रहने वाले स्वरूप का) वडवासुताभ्यां (अश्विनी कुमारों के द्वारा) वाङ्मयं (वाणी में विलीन रहने वाले स्वरूप का) अर्चिष्मता (अग्नि के द्वारा) पाणिप्रसक्तं (हाथों में विलीन) मां (मुझको) "मेरे स्वरूप का" इन्द्रतः (इन्द्र के द्वारा) चरणानुकारं

(चरणों में विलीन रहने वाले स्वरूप का) श्रीविष्णुना (श्रीविष्णु भगवान् के द्वारा) शिश्नमयं (शिश्नेन्द्रिय में विलीन रहने वाले स्वरूप का) केन (ब्रह्मा के द्वारा) पायुप्रलीनं (पायु इन्द्रिय में विलीन रहने वाले स्वरूप का) मृतितो (मृत्यु के द्वारा) न्ययच्छः (प्रदान किया) अर्थात् आविर्भाव किया। ॥१६४॥१६५॥१६६॥

हे योगिन्! मेरे से सम्पर्क रखने वाली बुद्धि में विलीन मेरे स्वरूप का आपने ब्रह्मा के द्वारा आविर्भाव किया और हे विद्वन्! अर्थात् सर्वज्ञ मन में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने स्वधृत चन्द्रमा के द्वारा आविर्भाव किया। इसी प्रकार अहंकार में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने श्रीरुद्रदेव के द्वारा आविर्भाव किया, और कर्णेन्द्रिय में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने दिशाओं के द्वारा आविर्भाव किया। एवं त्वचा इन्द्रिय में विलीन रहने वाले रूप का आपने पवन के द्वारा आविर्भाव किया। इसी प्रकार हे चक्रराज! चक्षु इन्द्रिय में विलीन रहने वाले रूप का आपने सूर्य के द्वारा आविर्भाव किया। इसी प्रकार हे देव! जीभ में विलीन रहने वाले रूप का आपने वरुण के द्वारा आविर्भाव किया और नासिका के अन्दर विलीन रहने वाले स्वरूप का अश्विनीकुमारों के द्वारा आविर्भाव किया। वाणी में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने अग्नि के द्वारा आविर्भाव किया, हाथों में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने इन्द्र के द्वारा आविर्भाव किया। पैरों में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने श्रीविष्णुदेव के द्वारा आविर्भाव किया और शिश्नेन्द्रिय में विलीन रहने वाले स्वरूप का आपने प्रजापति (ब्रह्माके द्वारा आविर्भाव किया एवं पायु (गुदा इन्द्रिय) में विलीन रहने वाले रूप का आपने यमदेव के द्वारा आविर्भाव किया। ॥१६४॥१६५॥१६६॥

तात्पर्य यह है कि, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से यह समस्त जगत् ब्रह्म का ही शक्ति विक्षेप लक्षण परिणाम माना जाता है। अर्थात् भगवान् के विराट्रूप से ही प्रत्येक (जड़ चेतन रूप)

व्यक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अतः यह कहना उचित ही है कि, विराट् रूप भगवान् की बुद्धि ही तत्तप्राणियों के अन्दर कार्य रूप से प्रविष्ट होती है। इसी प्रकार मन, अहंकार और ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आदिक सभी सूक्ष्म शरीर के अवयवों का भी आविर्भाव क्रमशः विराट् भगवान् के सूक्ष्म शरीरान्तर्गत मन, अहंकार और इन्द्रियों से ही होता है। अतएव प्रलयावस्था में प्राणियों के सूक्ष्मशरीर विराट्पुरुष के ही सूक्ष्म शरीर में लीन हो जाते हैं। ब्रह्मसूत्र चतुर्थाध्याय के १४ वें और १५ वें सूत्रों के भाष्य में यही सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है।

वक्तव्यमीराग्नित इन्द्रहस्तैः शिल्पं गतिं पद्धरिभिः सुनन्दिम्।
कोपस्थतः पायुमृतो विसर्गमुन्नोदनं वा अपनोदनञ्च॥१६७॥
आकुञ्चनं निम्बरवे! प्रसारं सर्वेन्द्रियैः कर्मधृतं त्वला मे।
भूतोयतेजोऽनिलदेव वर्त्मनां मां किलैक्षे परमाणुरूपम्॥१६८॥
निम्बार्क? कार्ष्णे? तव नाथ? हेतूपाधौ प्रभो? कारणकारणस्य।
जाग्रद्विलीनं समपश्य उस्त्रविश्वात्मको विश्वविलीनमक्ष्णि॥१६९॥

हे निम्बरवे! ईराग्नितः (वाणी और उसके प्रवर्त्तक अग्निदेव के द्वारा) मे (मेरे) वक्तव्यम् (भाषण रूपी कर्म का) धृतं (धारण किया) (इसी प्रकार) इन्द्रहस्तैः (हाथ और उनके प्रवर्त्तक देव इन्द्र के द्वारा (मेरे) शिल्पम् (शिल्प रूप कर्म का) पद्धरिभिः (पैर और उसके प्रवर्त्तक देव हरि के द्वारा) गतिं (गमन रूपी कर्म का (तथा) कोपस्थतः (उपस्थ और उसके प्रवर्त्तक देव ब्रह्मा के द्वारा) सुनन्दिम् (आनन्दात्मक कर्म का) (तथा) पायुमृतः (गुदा और उसके देव मृत्यु के द्वारा) विसर्गं (विसर्ग रूपी कर्म का) (धारण किया) च (और) उन्नोदनं (ऊपर को फैंकना) अपनोदनं (नीचे को फेंकना) अकुचनं (सिकुडना) प्रसारं (फैलाना) कर्म (पाँच प्रकार के कर्मों को) सर्वेन्द्रियैः (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों के द्वारा) धृतं (धारण किया) मे (मेरे लिये) अलाः (आपने दिया) भूतोयतेजोऽनिलदेववर्त्मनां (पृथ्वी-जल-तेज-वायु इन तत्त्वों के देव-लोकों के मार्ग में) मां

(मुझको) परमाणुरूपं (परमाणु रूप में) ऐक्षे (मैंने देखा) किल (निश्चय) हे निम्बार्क! हे कार्ष्णे! हे नाथ! कारणकारणस्य (कारणों के भी कारण) प्रभो! (सर्व सामर्थ्य वाले) तव (आपकी) हेतूपाधौ (कारणोपाधि में) जाग्रत (जाग्रत अवस्था को) विलीनं (विलीनरूप में) ऐक्षे (मैंने देखा) त्व (हे नाथ! आप) उस्रविश्वात्मक: (दिव्य विश्वरूप हो) (अत:) अक्ष्णि (आपके नेत्र-पटल के अन्दर ही) विश्वविलीनं (संसार की लय को) समपश्यं (अच्छी प्रकार मैंने देखा है) ॥१६७॥१६८॥१६९॥

हे निम्बरवे! मेरे इस शरीर के अन्दर तथा उभय विध इन्द्रियों में रहने वाले सभी धर्म आप ही के दिव्य विग्रह में से आपने ही इस शरीर में स्थापित किये हैं। अतएव यह शरीर आपके आनन्द-सिन्धु स्वरूप विग्रह का ही एक बुदबुदा कहा जा सकता है। क्योंकि वाणी और उसके प्रवर्त्तक अग्निदेव के द्वारा ही मेरी वाक् इन्द्रिय अर्थात् मेरी वाणी में वक्तव्य अर्थात् भाषण कर्म आपने स्थापित किया। एवं हाथ और उसके प्रवर्त्तक देव इन्द्र के द्वारा हाथों में शिल्पकला स्थापित की। पैर और उसके प्रवर्त्तक देव विष्णु के द्वारा पैरों में गमन रूप कर्म स्थापित किया। तथा उपस्थ और उसके प्रवर्त्तक देव ब्रह्मा के द्वारा उपस्थ में ⋆ वीर्यक्षरणानुकूल व्यापारात्मक लौकिक आनन्द

⋆ श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने श्रीनिम्बार्क भगवान् के शरीर से ही समस्त सामर्थ्यों का अपने शरीर में आना प्रकट किया है। किन्तु इस कथन से एक श्रीऔदुम्बराचार्य को ही श्रीनिम्बार्क भगवान् के विराट् शरीर से सामर्थ्य प्राप्त हुआ है, इतना ही नहीं समझना चाहिये, अपितु समस्त शरीरों के अन्दर समस्त शक्तियाँ श्रीनिम्बार्क भगवान् के विराट् शरीर से ही प्राप्त होती हैं, इसी आशय को लेकर उपस्थ में आनन्दात्मक कर्म स्थापन करना कहा है। यह सन्देह भी निवृत्त हो जाता है कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत वाले आचार्यविग्रह के उपस्थ से उनके शिष्य तथा समस्त प्राणियों के उपस्थों में वीर्य क्षरणनुकूल व्यापारात्मक आनन्द का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है। क्योंकि इस समय आचार्यविग्रह में विराट् शरीर का साक्षात्कार हो रहा है। जो कि समस्त जगत् का ही एक

रूपी कर्म की स्थापना की। एवं पायु और उसके प्रवर्त्तक देव यम के द्वारा पायु इन्द्रिय में मलादिक विसर्जन रूप कर्म की स्थापना की। इसी प्रकार ऊपर को फैंकना १ और नीचे को फैंकना २ तथा संकुचित करना ३ और फैलाना ४, एवं गमन ये समस्त प्राणादि के द्वारा इन्द्रियों से होने वाले कर्मों को मेरे इस देह में आप ही ने स्थापित किया है। हे निम्बार्क! हे कार्ष्णे! अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के तुरीय स्वरूपावतार! पृथ्वी-जल-तेज-वायु आदि तत्त्वों के अधिष्ठाता देवों के लोकों में जाने वाले मार्ग (आकाश) में, मैं अपने को अत्यन्त परमाणु रूप से देख रहा हूँ। हे नाथ! कारणों के भी कारण! सर्वविध सामर्थ्यवान् आपकी कारण उपाधि में जाग्रत् अवस्था मैंने विलीन रूप से देखी। अर्थात् जाग्रत् अवस्थावान् समस्त संसार को मैंने आप ही में लय होते हुए देखा। हे प्रभो! आपने केवल अपने नेत्र में ही इस समस्त संसार हो छिपा रखा है, अर्थात् आपकी पलक खुलते ही समस्त जगत् प्रकट हो जाता है और पलक गिरते ही समस्त संसार लीन हो जाता है। फिर भी आप दिव्य विश्व-स्वरूप हैं। क्योंकि त्रिगुणात्मक संसार को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेने पर भी आप माया के गुणों से किसी प्रकार लिप्त नहीं होते।

यह कथन भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी के आद्य और अवतरित दोनों ही स्वरूपों में संगत हो सकता है। क्योंकि, भगवान् के तुरीय स्वरूप एवं चक्रराज श्रीसुदर्शन अवतार के मूलस्वरूप में तो समस्त जगत् समाविष्ट है ही। अत: उसी में जगत् की उत्पत्ति और स्थिति और प्रलय होती ही रहती है, तो भी गुणातीत होने के कारण वे माया के गुणों से लिप्त नहीं होते। इसी प्रकार अवतरित स्वरूप श्रीआचार्य विग्रह में भी समस्त संसार के विषयों का प्रलय होता है। तथापि पूर्ण

स्वरूप है। अत: उसके अन्दर समाविष्ट उपस्थादि इन्द्रियों में क्षरणादि क्रियाओं के होने पर भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत में कोई दूषण नहीं आ सकता।

ज्ञान युक्त होने के कारण आचार्यविग्रह प्राकृतिक गुणों से लिप्त नहीं होता ॥१६७॥१६८॥१६९॥

मां चाहमैक्षे ह्युभयं च देव स्वप्नप्रयुक्तं तव तैजसात्मा।
कण्ठे सुषुप्तिं प्रलयं तु हृत्तः प्राज्ञप्रलीनोऽथ तुरीयलीनम्॥१७०॥
तत्स्थो विभुर्मूर्ध्नि मुकुन्ददर्शिंस्तस्मै नमस्तूर्यसदा स्थिताय।

अथ (जड़ जगत् के देखने के अनन्तर) देव (हे देव!) तैजसात्मा (तैजस संज्ञावान्) अहं (मैंने) स्वप्नप्रयुक्त (स्वप्नयुक्तं) मां (अपने को) तु कण्ठे (कंठ में) (फिर) प्रलीनः (सुषुप्ति में लीन) प्राज्ञः (प्राज्ञ संज्ञावाले मैंने) हृत्तः (हृदय में) सुषुप्तिं (सुषुप्ति) च (और) प्रलयं (प्रलय) उभयं (इन दोनों को) च (और) तुरीयलीनं (तुरीय तत्त्व में लीन आपको) ऐक्षे (मैंने देखा) हे मुकुन्ददर्शिन्! तत्स्थः (उस तुरीय तत्त्व में स्थित रहने वाले) (आप) विभुः (व्यापक हैं) (अतः) तूर्यसदास्थिताय (तुरीयत्व में सदा स्थित रहने वाले) तस्मै (आपको) नमः (मैं नमस्कार करता हूँ) ॥१७०॥१७१॥

हे देव! जड़ जगत् के देखने के अनन्तर तैजस संज्ञा वाले मैंने अपने को आपके कण्ठ में और सुषुप्ति में लीन रहते हुये प्राज्ञ संज्ञा वाले मैंने सुषुप्ति और प्रलय इन दोनों को आपके हृदय में देखा और आपको तुरीयतत्त्व में लीन मैंने देखा। हे मुकुन्द दर्शिन्! उस तुरीय तत्त्व में स्थित रहते हुए भी आप विभु स्वरूप ही हैं। अतएव सर्वोच्च मस्तक के ऊपर आपको मैंने देखा। अतः सर्वोच्च स्थान तुरीयतत्त्व में सदा स्थित रहने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ। ॥१७०॥१७१॥

निम्बार्क! कार्ष्णेऽन्नमयं तु कोशं स्वामिंस्तथा प्राणमयं च योगिन्।
योगेश? विज्ञानमयं धृतं मे निर्द्वन्द? चानन्दमयं किलैक्षे।
विश्वात्मधारिंस्तु तदाश्रितत्वे तस्मै नमस्ते धृतकोशरूपिन्॥१७२॥

हे निम्बार्क! हे कार्ष्णे! हे स्वामिन्! तु (इसी प्रकार) मे (मेरे अन्दर) धृतं (धारण किये हुए) अन्नमयं (अन्नमय) तथा (एवं)

प्राणमयं (प्राणमय) च (और) हे योगिन्! (हे योगेश!) विज्ञानमयं (विज्ञानमय) च (और) तदाकृतित्वे (उसी पंचकोशात्मक आकृति में) आनन्दमयं (आनन्दमय) कोशं (कोश को) किल (निश्चित रूप से) ऐक्षे (मैंने देखा) विश्वात्मधारिन् (हे समस्त संसार के आधार) तु (एवं) धृतकोशरूपिन् (कोशों को धारण करने योग्य स्वरूप वाले) तस्मै (उस) ते (आपको) नमः (नमस्कार है) ॥१७२॥

हे निम्बार्क प्रभो! हे कार्ष्णे! (श्रीकृष्ण स्वरूप) हे स्वामिन्! (हे नियन्ता!) जैसे आपके दिव्य विग्रह में अन्य बाहरी सभी अंगों का और उनमें रहने वाले धर्मों का मैंने साक्षात्कार किया, वैसे ही आपके अन्दर कोश रूपी पाँचों पुरुषों का भी मैं साक्षात्कार कर रहा हूँ। अर्थात् हे योगिन्! अन्नमय-प्राणमय-विज्ञानमय तथा हे निर्द्वन्द! शरीर के अन्दर स्थित रहने वाले आनन्दमय कोष का मैंने आपके अन्दर साक्षात्कार किया। अतः हे समस्त जगत् के आधार! कोष अर्थात् पाँचों पुरुषों को धारण करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१७२॥

वैराग्यमाद्यं जितमानसंज्ञं दृष्टं मया ते गतमानतायाम्।
निम्बैकभक्ष्ये व्यतिरेकसंज्ञं देवर्षिनिर्देशिकपारवश्ये॥१७३॥
एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागमोक्षं तस्याप्यभावन्तु वशीकृताख्यम्।
यद्वस्तुतो भावत आदिवीर वैराग्यपर्य्यायसुदर्शकस्त्वम्॥१७४॥

आद्यं (प्रथम) जितमानसंज्ञं (यतमान नामक) वैराग्यं (वैराग्य को) मया (मैंने) ते (तुम्हारी) गतमानतायां (निरभिमानता में) दृष्टं (देखा) निम्बैकभक्ष्ये (एक ही निम्ब के आहार करने में) व्यतिरेकसंज्ञं (व्यतिरेक नामक वैराग्य को) देवर्षिनिर्देशिकपारवश्ये (श्रीनारद से निर्दिष्ट पारवश्य भगवद्भक्ति में) एकेन्द्रियाख्यं (ऐकेन्द्रिय नामक वैराग्य को) (और) तस्याप्यभावं (उसके भी अभाव अर्थात् भिन्नस्वरूप) रागमोक्षं (राग मुक्त) वशीकृताख्यम् (वशीकार नामक वैराग्य को) हृदि (हृदय में मैंने देखा) आदिवीर (हे आदि वीर!) भावतः (भाव रूपेण) यद्वस्तुतः (वैराग्य की वास्तविकता) "आप में

होने के कारण" त्वं (आप) वैराग्यपर्य्यायसुदर्शक: (वैराग्य के पर्याय को आप सुन्दर रूप से दिखाने वाले हैं) ॥१७३॥१७४॥

हे आदि वीर! आपकी निरभिमानता में मैंने यतमान संज्ञक प्रथम वैराग्य को और एक ही निम्ब के आहार करने वाली भक्षण क्रिया में व्यतिरेक नामक दूसरे वैराग्य को एवं देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी के उपदेशानुसार अपनी परिचर्या रखने में एकेन्द्रिय नामक तीसरे वैराग्य को तथा उसके भी अभाव रूप राग–मुक्त वशीकृत नामक चतुर्थ वैराग्य को मैंने आपके हृदय में देखा। यद्यपि वैराग्य एक मन का भाव है, अत: भाव ही वैराग्य की वास्तविक स्वरूपता है। तथापि आप सर्व विध विरक्त होने से वैराग्य के स्वरूप ही प्रतीत हो रहे हो। अत: वैराग्य के पर्य्याय कहना भी उचित ही है। क्योंकि आप अपने शरीर द्वारा वैराग्य का शरीर रूप से साक्षात्कार करा रहे हो ॥१७३॥१७४॥

तात्पर्य यह है कि, भगवत्प्राप्ति का परम साधन भगवद्भक्ति है, उसकी अभिवृद्धि के लिये वैराग्य भी एक भक्ति का साधन माना गया है।

"दृष्टाऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"

यो०सू०१/१५

इस पातञ्जल सूत्र के अनुसार इस लोक और परलोक के विषयों में से तृष्णा का मिट जाना ही वैराग्य कहलाता है। तथापि उसकी चार श्रेणियाँ हैं। जिनमें प्रथम श्रेणी का नाम यतमान है, और दूसरी का व्यतिरेक, तीसरी का एकेन्द्रिय और चौथी का वशीकार नाम है। क्योंकि रागादिक दोषों से जब चित्त लिप्त रहता है, तब उस चित्त के आधीन रहने वाली इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं। जब चित्त के दोष दूर हो जायँ, तब इन्द्रियों की विषयों में जाने वाली प्रवृत्ति रुकै। इस लिये उन दोषों को पकाने के लिये अर्थात् जर्जर करने के लिये साधकजन प्रयत्न करना आरम्भ करते हैं। अत: उस आरम्भिक वैराग्य को **यतमान वैराग्य** कहते हैं। फिर जब दोषों के

पक जाने पर एक प्रकार का पूर्वापरी भाव उत्पन्न होता है, अर्थात् साधकजन ऐसा विचार करते हैं कि, इतने दोष तो पक गये, और इतने दोषों का पकाना अवशेष है, अत: एवं पके हुए दोषों से पकाने योग्य दोषों का छाँटना **व्यतिरेक वैराग्य** कहलाता है। इसी प्रकार जब दोषों के पक जाने से इन्द्रियाँ निर्बल होकर विषयों की ओर धावा करने में असमर्थ हो जाती हैं, और केवल परिपक दोष मन के अन्दर उत्सुकता रूप से स्थित–मात्र रह जाते हैं, उस **वैराग्य को एकेन्द्रिय** कहते हैं। क्योंकि केवल एक आन्तरिक इन्द्रिय अर्थात् (कारण) मन में ही विषय विषयिणी उत्सुकता रह जाती है। और जब वह चित्त में रहने वाली उत्सुकता भी मिट जाती है, तब उस **वैराग्य को वशीकार** कहते हैं। वही वास्तविक परम वैराग्य कहलाता है। कारण उस वैराग्य से सम्पन्न हो जाने पर साधक जन के पास इस लोक से लेकर स्वर्ग पर्यन्त के विषय उपस्थित हो जायँ, तब भी उसकी प्रवृत्ति उन विषयों की ओर नहीं होती। इसी आशय को महर्षि पतञ्जलि ने अपने, "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकार संज्ञावैराग्यम् (योगसूत्र १/१५) इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है। ऐसे चतुर्विध वैराग्य का भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी के अन्दर अनुभव कर श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने श्रीनिम्बार्क भगवान् को वैराग्य स्वरूप कहा है।

देहात्मनोस्ते स्वपृथक्त्वदृष्टौ नैसर्गिको मेऽवगतो विवेक:।
ज्ञानं महत्वाद्यनुगत्वदृष्टौ विज्ञानमात्मैक्यसुदर्शने च ॥ १७५ ॥

देहात्मनो: (देह और आत्मा इन दोनों का) नैसर्गिक: (स्वाभाविक) विवेक: (भेद) ते (तुम्हारी) स्वपृथक्त्वदृष्टौ (आत्मा से देह को विभिन्न देखने में) मे (मेरे चित्त को) अवगत: (ज्ञात हुआ) महत्वाद्यनुगत्वदृष्टौ (प्रकृति से महत्तत्व उत्पन्न होता है। इस प्रकार की अनुगत दृष्टि में) ज्ञानं (ज्ञान) च (और) आत्मैक्यसुदर्शने (समस्त आत्माओं की एक ज्ञान स्वरूपता देखने में) विज्ञानं (विज्ञान) (मैंने जाना) ॥१७५ ॥

देह और आत्मा सदा से विभिन्न ही हैं, इस प्रकार की विभेद दृष्टि में आपके विवेक का मैंने अनुभव किया, और प्रकृति से महत्तत्व और महत्तत्व से अहंकार ऐसी सृष्टि प्रक्रिया के निश्चय में मैंने ज्ञान का साक्षात्कार किया। एवं पशु पक्षी मनुष्यादि देहों में स्थित समस्त आत्मा एक ही ज्ञान स्वरूपवान् हैं। ऐसे "आत्मैक्यरूपता" से विज्ञान का मैंने साक्षात्कार किया। तात्पर्य यह है कि योगियों में धर्म–ज्ञान–वैराग्य ऐश्वर्य–ज्ञान–विज्ञान ये सब आचार्य द्वारा उपदेश प्राप्त होने के अनन्तर उसके मनन आदि के अभ्यास करने से प्रकट होते हैं, किन्तु भगवान् के स्वरूपावतारों तथा अंशावतारों में वे सभी सद्‌गुण देह प्राप्ति के साथ–साथ ही उद्भूत हो जाते हैं। अत: आपके इस मंगलमय विग्रह में उक्त सभी विवेकादि सद्‌गुण स्वाभाविक ही हैं। यह आज विराट् रूप में आपको दर्शन करने से ज्ञान हुआ। अतएव आप साक्षात् भगवान् के ही अवतार हैं। इस विषय में अब मैं निसंदिग्ध हुआ, और मुझमें उत्पन्न होने वाली सभी आशंकायें दूर हुईं ॥१७५॥

इस श्लोक से ग्रन्थकार ने ज्ञान और विज्ञान के लक्षणों का भी परिचय करा दिया है। अर्थात् प्रकृति से महान् और महत्तत्व से अहंकार इत्यादि शास्त्रीय प्रक्रिया जानना ही ज्ञान कहलाता है और सम्पूर्ण आत्माओं में समानता की दृष्टि (अनुभव) ही विज्ञान कहलाता है।

अद्वैतसंज्ञे हि वदन्त्यतस्त्वभिज्ञाः सभेदं सुमतद्वयञ्च।
वेदास्तु निःश्वासितमुक्तयोनेर्वैशेषिकाँस्त्वेव सुदर्शनस्त्वम् ॥ १७६ ॥
निम्बार्क मीमांसिकतः सुविद्वन् पण्डेशपातञ्जलिकाँश्चसांख्यान्।
नैयायिकान् वै भगवन्नभिज्ञ? वस्त्वर्थवेदान्तक दर्शकश्च ॥ १७७ ॥

अभिज्ञ (हे सर्वज्ञ!) सुविद्वन् (हे समीचीन ज्ञानवान्!) पण्डेश (हे बुद्धि के अधिनायक!) भगवन् (षड्भगों से पूर्ण!) निम्बार्क श्रीनिम्बार्काचार्य!) अत: (जड़ चेतन में स्वाभाविक भेद होने से) हि (ही) उक्तयोने: (शास्त्र योनि ब्रह्म के) निश्वासितम् (निश्वासरूप) च (और) अभिज्ञा: (सर्वज्ञ) वेदा: (चारों वेद) अद्वैतसंज्ञे (परमात्मा

में) सभेदं (भेद के सहित) सुमतद्वयम् (दोनों अर्थात् भेदाभेद को) वदन्ति (कहते हैं) तु (किन्तु) वैशेषिकान् (वैशेषिकों को) तु (और) मीमांसिकत: (मीमांसकों को) च (और) पातञ्जलिकान् (योग दर्शन वालों को) सांख्यान् (सांख्यमतानुयायियों को) नैयायिकान् (नैयायिकों को) वस्त्वर्थवेदान्तकदर्शक: (वास्तविक वेदान्तार्थ को दिखाने वाले) त्वम् (आप) एवं (ही) वै (निश्चित रूप से) सुदर्शन: (समीचीन दर्शक) हो ॥१७६ ॥१७७ ॥

देह और आत्मा में स्वाभाविक भेद होने के कारण सर्वज्ञकल्प ऋषिजन एवं भगवान् के अंशावतार रूप श्रीवेदव्यास आदि सूत्रकार ऋषिजन विभिन्न-विभिन्न प्रकृति गुण कर्मों वाले आत्माओं को और प्रकृति की सर्वाधार परमात्मा में सदा-सर्वदा पृथक् रूप से ही स्थिति रहना प्रकट करते हैं। अर्थात् जीवसमूह स्वरूपेण परमात्मा से विभिन्न ही हैं। इसी भाँति प्रकृति भी विभिन्न ही है। परन्तु जीव और प्रकृति किसी भी दशा में परमात्मा से पृथक् नहीं रह सकते, क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त इनका ऐसा कोई आधार नहीं। अतएव परमात्मा के ही आधीन इनकी स्थिति प्रवृत्ति होने से ये परमात्मा से अभिन्न भी कहे जाते हैं। अतएव भेद और अभेद ये दोनों ही ठीक हैं। अर्थात् परमात्मा के साथ जड़-चेतन-रूपी जगत् का भेदाभेद सम्बन्ध ही मानना उचित है। कारण कि, परमात्मा के नि:श्वास-रूपी वेदों ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। परन्तु हे सुविद्वन्! निम्बार्क भगवान्! वेदों के इस आशय का सभी दर्शनकारों को तो आपने ही दिग्दर्शन कराया है। अर्थात् वैशेषिकों (सात पदार्थ मानने वालों) को - और मीमांसक कर्म के प्रतिपादन करने वालों) को तथा पातञ्जल (योगदर्शनकार) और सांख्य सिद्धान्त के अनुयायी विद्वानों को तथा नैयायिकों को आपने ही वास्तविक वेदान्तार्थ तत्त्व (भेदाभेद-सिद्धान्त) दिखलाया है।

तात्पर्य यह है कि न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, साँख्ययोग और वेदान्त इन छहों दर्शनों में तत्त्वों की विवेचना की गई है। किन्तु प्रत्येक

दर्शन की विशेषता अपने-अपने विधेयों के प्रतिपादन में ही। अत: अधिकतर दर्शनों में विरोध-सा प्रीतत होता है। तथापि जीव-प्रकृति और ईश्वर यह तत्त्वत्रयी की यथार्थता और इनका परस्पर में (भेदाभेद) सिद्धान्त, यह निष्कर्ष सभी दर्शनों में अनुस्यूत (पोहा हुआ) मिलता है। इसलिये यह कहना उचित ही है कि वेदान्त आदि सूत्रों के भाष्य तथा टीकाकारों को स्वविरचित "वेदान्तपारिजातसौरभ" नामक ब्रह्मसूत्र की वृत्ति के द्वारा उक्त वेदान्त तत्त्व का दिग्दर्शन सर्व प्रथम आपने ही करवाया है। यद्यपि आधुनिक इतिहासकारों के लेखों के आधार पर किसी को श्रीनिम्बार्क भगवान् की अर्वाचीनता की शंका हो सकती है, अर्थात् जब डाक्टर भाण्डारकर श्रीनिम्बार्क भगवान् के प्रादुर्भाव का समय विक्रम की १२ वीं सताब्दी निश्चय करते हैं, फिर, "शंकर वात्स्यायन आदि भाष्यकारों को निम्बार्क भगवान् कृत वाक्यार्थ वृत्ति से बोध होना कैसे संगत माना जा सकता हैं" इस आशंका को पूर्ण निवृत्त करने के लिये इसी ग्रन्थ की भूमिका में दी हुई "समय समीक्षा" पढ़ना आवश्यक है। उसके पढ़ने से पाठकों को भाण्डारकर का लेख भ्रमपूर्ण ज्ञात होगा और श्रीनिम्बार्क भगवान् का समय उनके लेख से कई हजार वर्ष पूर्व का निश्चित हो सकेगा ॥१७६ ॥१७७ ॥

तुच्छी करोषीव विवादकालेऽतो वैष्णवाँश्चापिवदन्ति तज्ज्ञाः।
आचार्य! वेदान्तकदर्शनाँस्त्वदाचार्यहार्द्दाद्यनुवृत्तिमार्गा: ॥१७८॥

आचार्य! (हे आचार्य!) विवादकाले (परस्पर विवाद करने के समय में) तुच्छीकरोषि (अपने सिद्धान्त के द्वारा आगे भी सभी वादियों को खण्डन करते हुए) इव (जैसे आप प्रतीत होंयगे) च (और) तज्ज्ञा: (आपके भेदाभेद-सिद्धान्त को जानने वाले) त्वदाचार्य-हार्द्दाद्यनुवृत्तिमार्गा: (आपके साम्प्रदायिक अनुयायी) वेदान्तकदर्शनान् (वेदान्त का द्वैत आदिक में तात्पर्य बतलाने वाले) वैष्णवान् (वैष्णवों को) अपि (भी) (परास्त करेंगे) ॥१७८ ॥

हे आचार्य! जब दर्शनकारों तथा एक ही वेदान्त के विभिन्न–विभिन्न भाष्यकारों में परस्पर विवाद होगा। तब आप अपने सिद्धान्त (के द्वारा समस्त वादियों को आगे भी परास्त करते हुए से प्रतीत होंगे) कारण, कोई केवल भेद का ही समर्थन करेंगे और दूसरे केवल अभेद का ही समर्थन करेंगे। जब दैववश दोनों वादी आपके सिद्धान्त को देखने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे। तब स्वयं दोनों ही लज्जित हो जाँयेगे। अतः स्वप्रदर्शित सिद्धान्त के द्वारा आप ही उनको पराजित कर रहे हो ऐसे प्रतीत होगा, इसी प्रकार अन्य दर्शनों की भाँति वेदान्त के तात्पर्य को द्वैत अथवा केवल अद्वैत में ही बतलाने वाले वैष्णवों को सदाचारादि रहस्यों के ज्ञाता आपकी परम्परा के अन्तर्गत भविष्य में होने वाले साम्प्रदायिक अनुयायी जन परास्त करेंगे ॥१७८॥

चित्ते महत्तत्त्वमहंकृतौ तद्रत्नानिधातून्नखरेषु शक्त?।
सद्योतमेघांस्तु शिरोरुहेषु सत्यं यतिं केऽष्टहदध्वनिज्ञान् ॥१७९॥
वानस्थमञ्जस्तु तपोललाटे त्वद्भ्रूविजम्भे परमेष्टिधिष्ण्यम्।
पक्ष्मस्वहोरात्रगणं कटाक्षे सृष्टिं स्वरे गायकवर्गमास्ये ॥१८०॥
विप्रं जनो ब्रह्मचरञ्चमायां हासे जनोन्मादकरीं बलिष्ठाम्।
लज्जात औष्ठे त्वधरेऽभिलाषं पुत्रादिसुस्नेहमहन्तु दत्सु ॥१८१॥
दंष्ट्रासु याम्याग्रजमैक्ष ईशं श्वासे समीरं जगदादिदेव।
ग्रीवत ईशेश महश्च दोष्षु लोकेशवर्गं वियदिंगितांस्तु ॥१८२॥

सक्त! (हे सर्व सामर्थ्य युक्त!) (आपके) चित्ते (चित्त में) महत्तत्वं (महत्तत्व को) अहङ्कृतौ (अहंकार में) तद् (उस) चित्त को) तु (फिर) नखरेषु (नखों में) रत्नानि (रत्नों को) (और) धातून (धातुओं को) शिरोरुहेषु (बालों में सद्योत मेघान् (विजली सहित मेघों को) अष्टहदध्वनिज्ञान् (श्रुतिनाद के ज्ञाताओं को) त्वद्भ्रूविजम्भे (आपकी भृकुटि से विजृम्भित) ललाटे (ललाट में) वानस्थं (वानप्रस्थाश्रम को) तु (और) परमेष्ठिधिष्ण्यं (ब्रह्म धाम) तपः (तपलोक को) पक्ष्मसु (आपके) पलकों में) अहोरात्रगणं (दिन–रात के चक्र को)

कटाक्षे (टेढ़ी चितवन में) सृष्टिं (संसार को) स्वरे (स्वर में) गायक वर्गं (गन्धर्वादि गायकों के समुदाय को) आस्ये (मुख में) विप्रं (ब्राह्मण वर्ण को) (और) जनः (जनलोक को) च (और) ब्रह्मचरं (ब्रह्मचर्याश्रम को) हासे (मन्द मुस्कान में) जनोन्मादकरीं (प्राणियों को उन्मत्त बनाने वाली) वलिष्ठां (बलवती) मायां (माया को) ते (आपके) औष्ठे (ऊपर के होठ में) लज्जां (लज्जा को) तु (और) अधरे (नीचे के होठ में) अभिलाषं (अभिलाषा को) तु (और) दत्सु (दाँतों में) पुत्रादिसुस्नेहम् (पुत्रादिकों के शुद्ध स्नेह को) दंष्ट्रासु (डाढ़ों में) याम्याग्रजम् (यमराज के बड़े भ्राता) ईशं (रुद्र को) श्वासे (श्वास में) समीरम् (पवन को) ईशेश (हे ईशों के भी ईश!) जगदादिदेव (हे जगत् के आदि देव) ग्रीवातः (कण्ठ में) महः (महर्ल्लोक को) तु (और) दोष्षु (भुजाओं में) वियदिंगितान् (आकाश में सञ्चरणादि क्रिया वाले) लोकेश वर्गान् (दिक्पालों के समुदायों को) अहं (मैं) ऐक्षे (देख रहा हूँ) ॥१७९ ॥१८० ॥१८१ ॥१८२ ॥

हे सर्व सामर्थ्य सम्पन्न! मैंने आपके चित्त में महत्तत्व और अहंकार में उसके प्रवर्त्तक देव रुद्र को, एवं नखों में रत्न और धातुओं को, बालों में बिजली सहित मेघों की, मस्तक में सत्यलोक और संन्यासाश्रम को "एवं श्रुतिनाद के ज्ञाताओं को," आपकी भृकुटि से विजम्भित ललाट में बानप्रस्थाश्रम और ब्रह्मा धाम तपोलोक को, पलकों में दिन रात के चक्र को, टेढ़ी चितवन में संसार और स्वर में गन्धर्वादि गायक वृन्द को, मुख में ब्राह्मण वर्ण, जनलोक और ब्रह्मचर्याश्रम को, हास्य में प्राणियों को उन्मत्त बनाने वाली बलवती माया को, ऊपर के होठ में लज्जा और नीचे के होठ में अभिलाषा को और दाँतों में शिष्यादिकों में शुद्ध स्नेह को, डाढ़ों में यम के बड़े भ्राता रुद्र को, श्वाश में समस्त वायु को, एवं हे जगत् के आदि देव! हे ईशों के भी ईश! कण्ठ में महर्लोक भुजाओं में लोकपालों के समुदाय और आकाश में सञ्चारादि क्रिया को मैं देख रहा हूँ॥१७९ ॥१८० ॥१८१ ॥१८२ ॥

त्वच्छिल्पनैपुण्यतराँस्तु वीर्ये यज्ञप्रयोगंत्ववशत्वकार्ये।
चेष्टासु कालं च गुणप्रवाहं क्रीड़ासु तु नाकमुरस्सु लक्ष्मीम्॥१८३॥
ऐक्षे गृहस्थं स्तनतस्तु धर्मं ज्योतींषि मालासु च पृष्ठतस्तु।
आत्मीयसन्तानवितानयुक्तं त्वदृष्टिभीतं विमुखं त्वधर्मम्॥१८४॥

तु (इसी प्रकार) वीर्ये (पराक्रम में) त्वच्छिल्पनैपुण्यतराम् (आपकी शिल्पकला विषयिणी निपुणता को) तु (तथा) अवशत्वकार्ये (आपकी स्वतन्त्रता में) यज्ञप्रयोगं (यज्ञों का विधान-कार्य प्रणाली) च (और) चेष्टासु (चेष्टाओं में) कालं (समय को) तु (और) क्रीड़ासु (क्रीड़ाओं में) गुणप्रवाहं (गुणों के प्रवाह को) उरस्सु (हृदयस्थल में) नाकं (स्वर्ग को) (और) लक्ष्मीं (लक्ष्मी को) स्तनतः (स्तनों में) गृहस्थं (गृहस्थ) धर्मं (धर्म को) तु (और) ज्योतींषि (ज्योति समूह को) मालासु (हृदयस्थ मालाओं में) पृष्ठतः (पीठ की) आत्मीय सन्तान वितान युक्तं (अपनी विस्तृत सन्तति सहित) त्वदृष्टिभीतं (आपकी दृष्टि से भयभीत) अधर्मं (अधर्म को) पृष्ठतः (पीछे की और) विमुखं (विमुख रूप से) ऐक्षे (मैंने देखा) ॥१८३॥१८४॥

इसी प्रकार हे प्रभो! आपके पराक्रम में आपकी शिल्प विषयिणी निपुणता का और निज स्वतन्त्रता में आपकी यह प्रयोग विषयिणी प्रणाली का तथा आपकी चेष्टाओं में अखण्ड काल का एवं आपकी विचित्र लीलाओं में गुणों के प्रवाह का और हृदयस्थल में स्वर्ग एवं लक्ष्मी का, स्तनों में गृहस्थ धर्म और समस्त ज्योतिश्चक्र का, तथा पीठ मालाओं में अपनी वित्रस्त संतति सहित आपकी दृष्टि से डरे हुए, धर्म-ज्ञान-वैराग्यादि से विपरीत अधर्म का मैंने साक्षात्कार किया। अर्थात् सभी प्रकार के विरुद्धधर्मों का भी जैसे गृहस्थ-विरक्त आश्रम और धर्म-अधर्मादिक का भी इस आपके एक ही मंगलमय विग्रह में मैंने साक्षात्कार किया॥१८३॥१८४॥

नाभौ नभस्ते घटखञ्च माठं नाभ्यब्जनाले च वराटके च।
पत्रे महत्खं जलधिं तु कुक्षौ नाड्यां नदीः श्रोणितटे पशव्यम्॥१८५॥
अव्राजमेवं वृषणे च मित्रं पृथ्वीतलं ते जघने ह्युरूद्ध्र्वे।
तत्राप्यधस्तादतलं च वैश्यं विश्वात्मनस्ते वितलं विवेकिन्॥१८६॥
जानुद्वये वै सुतलं विभूमन्! जङ्घात ऐक्षे हि तलातलं च।
त्वद्गुल्फयोश्चैव महातलं वै सर्वेश पार्ष्णिप्रपदप्रदेशे॥१८७॥
श्रीविश्वमूर्तेस्तु रसातलं च पातालमीशस्य च पादमूले।
शूद्रं च शुश्रूषणकृष्णतोषं सन्ध्यास्तु वासस्सु च विश्वमूर्ते॥१८८॥

विवेकिन्! (हे विवेकिन्!) ते (तुम्हारी) नाभौ (नाभिमें) नभः (आकाश को) च (और) नाभ्यब्जनाले (नाभिकमल के नाल में) घटखं (घटाकाश को) च (और) वराटके (कौड़ी में) माठ (मठाकाश) च (और) पत्रे (पत्र में) महत्खं (महाकाश को) तु (एवं) कुक्षौ (कूख में) जलधिं (समुद्र) नाड्यां (नाड़ी में) नदीः (नदियों को) श्रोणितटे (नितम्ब स्थल में) पशव्यम् (हिरण आदि पशुओं को) एवञ्च (इसी प्रकार) वृषणे (अण्डकोश में) मित्रं (वरुण) अव्राजं (मैंने जाना) ते (तुम्हारी) उरुद्ध्र्वे (गोड़ों के ऊपर) जघने (जंघा में) पृथ्वीतलम् (पृथ्वी तल) तत्र (वहाँ) अधस्तात् (नीचे के भाग में) अतलं (अतल) च (और) वितलं (वितल) तथा वैश्यं (वैश्य वर्ण) विश्वात्मनः (विश्व रूप) ते (तुम्हारे) जानुद्वये (घुटनों में) सुतलं (सुतल) विभूमन्! (हे विशिष्ट भूमा पुरुष!) जङ्घातः (घुटनों के नीचे के भाग में) तलातलं (तलातल) त्वद्गुल्फयोः (तुम्हारे टकनों में) महातलं (महातल) च (और) सर्वेश! (हे सर्वेश!) पार्ष्णिप्रपदप्रदेशे (एड़ी के आसपास) रसातलं (रसातल) तु (एवं) श्रीविश्वमूर्तेः (विश्वमूर्त्ति) ईशस्य (सर्व प्रजा के शासक के) पाद मूले (पैरों की तलियों में) पातालं (पाताल) च (और) शुश्रूषणकृष्णतोषं (शुश्रूषा के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र को सन्तुष्ट करने वाले) शूद्रं (शूद्र वर्ण को) च (और) विश्वमूर्ते (हे विश्वमूर्ते!) वासस्सु (वस्त्रों में) सन्ध्याम् (सन्ध्या को) ऐक्षे (मैंने देखा) ॥१८५॥१८६॥१८७॥

हे विवेकिन्! आपकी नाभि में मैंने आकाश को देखा और नाभीकमल के नाल में घटाकाश को, और कौड़ी में मठाकाश को, एवं नाभिकमल के दल में महाकाश को और आपकी कुक्षि (कूख) में समुद्र को, नाड़ियों में नदियों को, श्रोणितट (पीछे के भाग नितम्ब) में पशव्य (पशुओं के समुदाय) एवं वृषण (अण्डकोश) में वरुण को मैंने जाना। जाँघों के ऊपर के भाग में पृथ्वी–तल को, और नीचे के भाग में अतल एवं वितल लोक और वैश्य वर्ण को तथा विश्वरूप आपके दोनों घुटनों में सुतल–लोक को, इसी प्रकार घुटनों के नीचे भाग (पिण्डरियों) में तलातल को, टकनों में महातल को, एड़ी के आसपास रसातल को और पगतलियों में पाताल, त्रैवर्णिक सेवारूप अपने धर्म के द्वारा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को सन्तुष्ट करने वाले शूद्रवर्ण को मैंने देखा। यह विराट्रूप का वर्णन पुरुषसूक्त के तथा पुराणों के वचनों के अनुसार किया गया है। श्रीमद्भागवत के अन्दर कई स्थलों में जहाँ–जहाँ पर भक्तजनों को भगवान् ने विराट्रूप दिखलाया है– वहाँ पर लोकों का आनुपूर्विक्रम इस प्रकार मिलता है। जैसे कि–

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलञ्च।
महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति॥
उरस्स्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वैवदनं जनोऽस्य।
तपोररराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्त्र शीर्ष्णः॥

(श्रीमद्भागवत २ स्कन्ध १ अ० श्लोक २७, २८, २९)

अर्थात् पाताल विराट्रूप परमात्मा के पैर हैं, एड़ी रसातल, टकने महातल, पिण्डियाँ तलातल, घुटने सुतल, जाँघों के नीचे का भाग अतल–वितल, ऊपर का भाग पृथ्वीतल (भूलोक) नाभि आकाश (भुवर्लोक), हृदय, स्वर्ग, ग्रीवा (कण्ठ) महर्लोक, मुख जनःलोक, ललाट तपलोक और मस्तक सत्यलोक हैं। इत्यादि ॥१८५॥१८६॥१८७॥१८८॥

औत्तम्यमादृश्य कनिष्ठताभिः स्थूलत्वसूक्ष्मत्वविशेष शेषैः।
सामान्यचैतन्यजडत्वनिष्ठैः सर्वंत्वमेव ह्यभिधेयमन्त्रः॥१८९॥
आधारमाधेयमथाङ्गमङ्गिनं नामिनं नाम गुणं गुणाढ्यम्।
कर्मक्रियावन्तमिहत्वपश्यं विश्वात्मके कृष्णजनानुरक्तः॥१९०॥

सामान्यचैतन्य जड़त्वनिष्ठैः (जड़–चेतनजगत् रूप में स्वभाव से ही रहने वाले) स्थूलत्व सूक्ष्मत्व विशेष शेषैः (स्थूलत्व–सूक्ष्मत्व आदि (तथा) कनिष्ठताभिः (कनिष्ठत्व आदि धर्मों के रूप से) सर्वं (सम्पूर्ण) औत्तम्यं (उत्तमता को) आदृस्य (दिखला करके) अभिधेयमन्त्रः (अभिधेय सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति) मन्त्र का प्रतिपाद्य ब्रह्म) त्वम् (तुम) एव (ही) (हो) हि (क्योंकि) आधारं (आधार) आधेयं (आधेय) अथ (एवं) अङ्गं (अंग) अंगिनम् (अंगी) नाम (नाम) नामिनं (नामी) गुणं (गुण) गुणाढ्यं (गुणवान्) कर्म (क्रिया) क्रियावतं (क्रियावान्) (आदि समस्त वस्तुओं को) कृष्णजनानुरक्तः (भगवद्भक्तों में प्रीति रखने वाले) मैंने) इह (इस) विश्वात्म के (विश्वरूप आपके शरीर) अपश्यम् (मैंने देखा) ॥१८९ ॥१९० ॥

जड़–चेतनरूप जगत् के अन्दर स्थूलत्व–सूक्ष्मत्व और कनिष्ठत्व आदि धर्मों के रूप से समस्त जगत् को व्याप्त कर जगत् में स्थिति रहने से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस अभिधेय मन्त्र के प्रतिपाद्य ब्रह्म आप ही हैं। क्योंकि भगवद्भक्तों में प्रीति रखने वाले आपके इस तुच्छ दास (मैंने) आधार–आधेय अंग–अंगी नाम–नामी गुण–गुणवान् क्रिया–क्रियावान् आदि समस्त जागतिक वस्तुओं का आपके इसी विश्वरूपी शरीर में प्रत्यक्ष कर लिया ॥१८९ ॥१९० ॥

एवञ्च सर्वे त्वयि विश्वधारे दृष्टा समस्तं जडजङ्गमे वै।
वृन्दावने प्रेममयं दधार सच्चिद्घनं ब्रह्म जगत्कृताङ्गम्॥१९१॥
श्रीराधिकाकृष्णपदं स्पृशत्तच्चक्रात्मके मे त्वयि दृष्टमद्धा।
आदर्शसक्तप्रतिबिम्बमूर्ज्जं सुध्यातृहृद्यन्तरिवात्मरूपम्॥१९२॥

एवञ्च (उपरोक्त कथानानुसार) विश्वधारे (विश्व को धारण करने वाले) सर्वे (सर्वरूप) त्वयि (आप में) समस्तं (सम्पूर्ण) जड़जङ्गमे (चराचर को) दृष्टवा (देखकर) ("जिस समय") सच्चिद्घनं (सच्चिदानन्द) ब्रह्म (परात्पर परब्रह्म ने) प्रेममयं (प्रेमरूप) जगत्कृताङ्गम् (जगत् को आनन्द देने वाले अंग को) वृन्दावने (वृन्दावन में) दधार (धारण किया था) ("उस समय") तत् (उस) श्रीराधिका- कृष्णपदं (श्रीराधाकृष्ण के चरण-कमल का) स्पर्शात् (संस्पर्श करता हुआ) उर्ज्जम् (ओजस्वी) आदर्शसक्तप्रतिबिम्बम् (अच्छे काँच में पड़े हुए सुन्दर प्रतिबिम्ब की भाँति (तथा) सुध्यातृहृद्यन्तः (अच्छी प्रकार ध्यान करने वाले के हृदय के अन्दर) आत्मरूपं (अपने स्वरूप की) इव (तरह) चक्रात्मके (चक्ररूप) त्वयि (आप में) मे (मेरा) आत्मरूपं (स्वस्वरूप) वै (निश्चितरूप से) मया (मेरे द्वारा) दृष्टं (देखा गया) ॥१९१॥१९२॥

उपरोक्त १४२ वें श्लोक से १९० तक के श्लोकों के सन्दर्भानुसार समस्त विश्व को धारण करने वाले सर्वरूप! आपके सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् को देखकर जिस समय सच्चिदानन्द परमेश्वर प्रेमपूर्णरूप जगत् को आनन्द देने वाली मूर्त्ति से श्रीधाम वृन्दावन में आविर्भूत हुए और उन श्रीराधिका-कृष्ण के चरण को स्पर्श किये हुए जैसे साफ और स्वच्छ काँच में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब एवं अच्छी रीति से ध्यान करने वाले के हृदय के अन्दर अपनेरूप का साक्षात्कार करवाते हो। ऐसे ही चक्र-रूप आपके अन्दर मैंने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया॥१९१॥१९२॥

(यहाँ श्लोक १९० से १९२ तक के श्लोकों की टीका तथा मूल से यह स्पष्ट होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य तथा श्रीऔदुम्बराचार्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार के समय विद्यमान थे।)

तत्रैव दामोदरराधिकाभ्यां पार्श्वे सखीमण्डल उत्तरस्थं।
श्रीरङ्गदेव्याहिवपुर्धरं त्वां दृष्टवा त्वदुद्विग्नमनाः पलाये॥१९३॥

सन्तप्यमानाङ्ग इवात्रिपुत्रः पृथ्वी पृथोर्विक्रम्पमाना।
त्वं चक्ररूप्यन्वगमो यथा मां दुर्वाससं तापपलायमानम्॥१९४॥
सर्वैरपद्रुत्य निरस्तमानैः रक्षार्थसंप्रार्थनयाश्रितैश्च।
सङ्कर्षणं ह्यात्मकुलादिसेव्यं विश्रम्भितोऽहं शरणं जगाम॥१९५॥

तत्र (वृन्दावन में) एव (ही) दामोदरराधिकाभ्या (श्रीराधाकृष्ण के) पार्श्वे (सन्निकट) सखीमण्डले (सखियों के वृन्द में) उत्तरस्थं (उत्तर की ओर स्थित) श्रीरङ्गदेव्याः (श्रीरङ्गदेवी के) वपुर्धरं (शरीर धारण किये हुए) त्वां (आपको) दृष्टवा (देखकर) त्वदुद्विग्नमनाः (आपकी उस आकृति से उद्विग्न मन होकर) सन्तप्यमानाङ्गः (जलते हुए शरीर वाले) अत्रिपुत्रः (दुर्वासा) (तथा) पृथोः (पृथु राजा के) विक्रमकम्पमाना (पराक्रम से कम्पित) पृथ्वी (वसुन्धरा) इव, (समान) पलाये (मैं दौड़ा) "तब" यथा (जैसे) तापपलायमानं (तेज के भय से भागते हुए) दुर्वाससं (दुर्वासा के) अनु (पीछे-पीछे) चक्र रूपी (चक्ररूप से) त्वं (तुम) अगमः (दौड़े थे) (तथा) मां (मेरे पीछे दौड़े) रक्षार्थसंप्रार्थनयाश्रितैः (रक्षण के लिये प्रार्थना किये हुए) निरस्तमानैः (मान न रखने वाले) सर्वैः (सब के निकट से) अपद्रुत्य (पीछे दौड़-दौड़ कर) विश्रम्भितः (थका हुआ) अहं (मैं) आत्म-कुलादि सेव्यं (अपने कुल में सेवा करने योग्य) संकर्षणम् (संकर्षण की) शरणं (शरण में) जगाम (मैं गया) ॥१९३॥१९४॥१९५॥

हे प्रभो! वहाँ श्रीधाम वृन्दावन में ही श्रीराधादामोदर भगवान् के सन्निकट उत्तर दिशा की ओर (अर्थात् वाम भाग में) सखियों के मण्डल में श्रीरंगदेवी के स्वरूप से आपको देखकर मेरा चित्त उद्विग्न हुआ कि श्रीगुरुदेव कहाँ पर अन्तर्हित हो गये? उपदेश करती हुई उस प्रतिमा को मैं अब कहाँ देख सकूँगा? इस प्रकार आपके स्वरूप की वास्तविकता को न समझ कर जब मैं पुनः इसी लोक की ओर दौड़ा, तब शरणागत वत्सलता के कारण मेरे रहे सहे मालिन्य को मिटाने के लिये आप अपने चक्ररूप से मेरे पीछे आए। जैसे कि अम्बरीष को

साधारण व्यक्ति मानकर दुर्वासा ने अपनी जटा से कृत्या निकाली थी और आप चक्र–रूप से उसके पीछे लगे थे, और वह त्रिभुवन में रक्षा के लिये दौड़ता–दौड़ता थक गया था। उसी प्रकार मैं भी सभी आश्रय देने वालों के पास जा जा कर लौटता रहा, परन्तु आप पीछे–पीछे ही लगे रहे। इसलिये अत्यन्त थक जाने पर मैं अपने कुल के सेव्य देव श्रीसंकर्षण भगवान् की शरण में गया ॥१९३ ॥१९४ ॥ ॥१९५ ॥

श्रीविष्णुमात्रेय इव प्रतीतस्तेन न्हुतः सद्विमुख्यो न रक्ष्यः।
अस्माकमित्यात्मकुलाधिहर्त्रा त्वामेव नारायणभक्तराज ॥१९६ ॥
प्रस्थापितः सन्तमिवाम्बरीषं स्तौमित्वदक्तश्रवणैः प्रभावेः।
यत्ते समक्ष्यं निजयोगवीर्यं सन्दर्शयामास महाविमूढ़ः ॥१९७॥
तेनैव साकं समपश्यमद्धा खद्योत आत्मानमिवार्च्चिषीशम्।
तज्ज्ञापये त्वां निजधार्ष्ट्यमीड्यमज्ञस्य धार्ष्ट्यं हि मम क्षमस्व॥

श्रीविष्णुं (विष्णु भगवान् के) प्रति (पास) इतः (गया हुआ) आत्रेयः (दुर्वासा) आत्मकुलाधिहर्त्रा (अपने आश्रितों की आपत्तियों को मिटाने वाले) तेन (श्रीविष्णु भगवान् के द्वारा) सद्विमुख्यः (सज्जनों से विमुख प्राणी) अस्माकं (हमारे) रक्ष्यः (रक्षा करने योग्य) न (नहीं) इति (इसलिये) न्हुतः (प्रेरित किया गया) (और) सन्तं (महात्मा) अम्बरीषं (अम्बरीष के पास ही) प्रस्थापितः (भेजा गया) महाविमूढ़ः (मूर्ख) इव (सदृश) ते (तुम्हारे) समक्ष्यं (सदा दृष्टि में रहने वाले भक्त को) आर्च्चिषीशम् (सूर्य को) खद्योतः (जुगुनू–पटवीजना) इव (सदृश) यत् (जो) निजयोगवीर्यं (अपना योग सामर्थ्य) सन्दर्शयामास (दिखलाया) तेन (उसके) साकं (साथ) एव (ही) आत्मानं (अपने को) अद्धा (निश्चयपूर्वक) समपश्यम् (मैंने देखा) तत् (वह) निजधार्ष्ट्यं (अपनी जड़ता) ईड्यं (स्तुति करने योग्य) त्वां (आपको) ज्ञापये (निवेदन करता हूँ) (और) नारायण भक्तराज (भगवद्भक्तशिरोमणे!) त्वां (आपकी) त्वदक्तश्रवणैः (आपके दृष्ट और श्रुत) प्रभावैः (प्रभावों से) स्तौमि (स्तुति करता

हूँ) (कि) मम (मुझ) अज्ञस्य (मूर्ख की) धाष्टर्यं (धृष्टता को) क्षमस्व (क्षमा करो) एव (ही) ॥१९६ ॥१९७ ॥ ॥१९८ ॥

जैसे श्रीविष्णु भगवान् के पास जाकर दुर्वासा ऋषि ने अपनी रक्षा के निमित्त प्रार्थना की, परन्तु भगवान् ने उनकी रक्षा नहीं की, कारण भगवान् की यह प्रतिज्ञा ही है कि वे अपने भक्तों का अपमान कभी भी सहन नहीं कर सकते। अत: दुर्वासा ऋषि को भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में यही प्रत्युत्तर दिया कि, हे ऋषे! अपने भक्तों के विरोधी को मैं शरण में नहीं रख सकता। यदि तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो जहाँ से आये हो, वहाँ उसी भक्तराज के पास चले जाओ।" इस प्रकार के रूक्ष वचनों से सर्वथा निराश होकर वह ऋषि दुर्वासा अत्यन्त लज्जित हुआ, क्योंकि सदा आपकी दृष्टि में रहने वाले भक्त को उस ऋषि ने अपना योगबल ऐसे दिखलाया था जैसे कि, कोई जुगनू (पटवीजना) सूर्य को अपनी दमक दिखाकर डराना चाहता हो। नारायण-भक्तराज हे भगवद्भक्त शिरोमणे! उसी के सदृश मैंने मूर्खता की। अत: आपके रहस्यरूप की वास्तविकता को न पहिचान कर जगत् में फिर-फिर आपको खोजने को तैयार हुआ और हितकारी स्वरूप से भी भयभीत होकर अनेक जगह रक्षा के लिये प्रार्थना की। परन्तु मेरी उस प्रार्थना पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि स्वसेव्य श्रीसंकर्षण भगवान् ने भी जबाब दे दिया, और उसी स्वरूप के शरण जाने का उपदेश किया, जिस रूप से कि आप श्रीराधाकृष्ण के बाँई ओर सखीरूप से सुशोभित हो रहे थे। अत: हे विचित्र शक्ति-सम्पन्न! अगम्य प्रभाव! अपने अन्दर उद्भूत होने वाली धृष्ठता को आपसे निवेदन कर आप ही से प्रार्थना करता हूँ कि, मुझ मूर्ख की इस धृष्टता को आप क्षमा कीजियेगा ॥१९६ ॥१९७ ॥१९८ ॥

मित्रस्य मित्रं जनकस्तु सूनोः प्रेष्ठः प्रियाया इव चाल्पजन्तोः।
ज्यायानिवेशोऽज्ञजनस्य वेद क्षित्यादयः पञ्चकृतीहकानाम्॥१९९॥

त्वत्तेजसा दग्धसमस्तपापश्चक्रस्वरूपेण सुतप्तपृष्ठः।
शुद्धान्तरात्माऽवगतानुभाव ऐतिह्यमर्हामि सतांप्रसादात्॥२००॥

मित्रस्य (मित्र का) मित्रं (अनुयोगी मित्र) सूनोः (पुत्रका) जनकः (पिता) प्रियायाः (पत्नी का) प्रेष्ठः (पति) अल्पजन्तोः (क्षुद्र जीव का) ज्यायान् (महापुरुष) पञ्चकृतीहकानां (पञ्चीकृत भूतों से उत्पन्न होने वाले शरीरों का) क्षित्यादयः (पृथ्वी आदि पञ्चभूत) इव (समान) अज्ञजनस्य (मुझ मूर्ख का) ईशः (शासन करने वाला) (तू ही है) (यह) वेद (मैंने जाना) चक्रस्वरूपेण (चक्र रूप) त्वत्तेजसा (आपके तेज से) सुतप्तपृष्ठः (तपी हुई पीठवाला) दग्धसमस्तपापः (समस्त पापों से मुक्त) सतां (सत्पुरुषों की) प्रसादात् (कृपा से) अवगतानुभावः (आपके प्रभाव को जाना हुआ मैं) ऐतिह्यं (परम्परान्तर्गत रहस्य जानने के) अर्हामि (योग्य हूँ) ॥१९९॥२००॥

जैसे प्रतियोगी मित्र (किसी से प्रीति करने वाले) का अनुयोगी मित्र (जिससे प्रेम किया जाय) शासन करता है एवं पुत्र का पिता, पत्नी का पति, क्षुद्र जन्तुओं का महापुरुष, पंच महाभूतों से उत्पन्न होने वाले शरीरों का पृथ्वी आदिक पंच महाभूत नियमन करते हैं, वैसे ही दुर्दान्तजनों का आप शासन करते हो अब यह मैंने जाना। क्योंकि चक्ररूप आपके तेज से मेरा पृष्ठ भाग जब सन्तप्त हुआ, तब मेरे समस्त पाप दग्ध हो गये। जिससे कि मेरी अन्तरात्मा संशुद्ध हो गई, और आपके रहस्यस्वरूप का मुझको ज्ञान हुआ। अतः अब आपकी कृपा से मैं रहस्य-सिद्धान्त को जानने योग्य बना॥१९९॥२००॥

दिङ्नेत्रवृत्तेन सुसाधितेन ह्यस्मद्विधाज्ञस्य सुगर्वितस्य।
गर्वाद्यवद्यापहरस्त्वमेव नारायणानुव्रतवर्य्यमुख्यः॥२०१॥
श्रीराधिकाकृष्णवहिर्मुखानां कालात्मकः सिंह इवार्भकाणाम्।
श्रीराधिकाकृष्णपरायणानांत्वं सोमराशिः प्रतिभासि साक्षात्॥२०२॥

सुसाधितेन (अच्छी प्रकार साधे हुए) दिङ्नेत्रवृत्तेन (द्वादश अराओं से) सुगर्वितस्य (अभिमानी) अस्मद्विधाज्ञस्य (मुझ जैसे

मूर्ख का) गर्वाद्यवद्यापहर: (अभिमानादि दोषों को हरने वाले) त्वं (आप) एव (ही) नारायणानुव्रतवर्यमुख्य: (भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ) (हो) श्रीराधिकाकृष्णपरायणानां (श्रीराधा सर्वेश्वर के भक्तों को) त्वं (साक्षात्-स्वयं) सोमराशि: (अमृत) प्रतिभासि (समान ज्ञात होते हो) "और" श्रीराधिका-कृष्णवहिर्मुखानां (श्रीराधा-सर्वेश्वर से विमुख प्राणियों को) अर्भकाणां (हाथियों के लिये) सिंह: (सिंह) इव (सदृश) कालात्मक: (काल रूप हो) ॥२०१ ॥२०२ ॥

अपने तीक्ष्ण द्वादश अराओं से अत्यन्त अभिमानी मुझ जैसे मूर्ख के अभिमानादि दूषणों को हरने वाले श्रेष्ठ भगवद्भक्त आप ही हो। जो कि श्रीराधासर्वेश्वर भगवान् के भक्तों के लिये साक्षात् अमृतमय और श्रीराधाकृष्ण के चरणों से विमुख रहनेवाले प्राणियों के लिये साक्षात् कालस्वरूप ही हो मानों हाथियों के बच्चे के लिये सिंह हो ॥२०१ ॥२०२ ॥

त्वत्तापतप्ताञ्छमलं विहाय वह्नीद्धबीजं प्रभवाद्यशक्तम्।
विध्यातहेमेव वरीष्टरिष्ट नेनेक्षि माञ्चापि तथैव भूमन्! ॥ २०३ ॥

वरीष्टरिष्ट! (हे औदुम्बर के क्षेम रूप!) यथा) प्रभवाद्यशक्तम् (उत्पादनादिकार्यों में असमर्थ) वह्नीद्धबीजं (प्रचण्ड अग्नि से जले हुए बीज को) विहाय (छोड़कर) शमलं (कल्मष) निर्याति (निकल जाता है) तथा (उसी प्रकार से) एव (ही) त्वत्तापतप्तान् (आपकी प्रतिमाओं से तपाये हुए सज्जनों को) "एवं" माम् (मुझको) अपि (भी) भूमन्! (हे प्रभो!) विध्यातहेमा (तपाये हुए सुवर्ण की) इव (भाँति) नेनेक्ष (आपने पवित्र बनाया) ॥२०३ ॥

हे भूमन् मुझ औदुम्बर के कल्याण करने वाले! जिस प्रकार उत्पादनादि कार्यों में असमर्थ अर्थात् प्रचण्ड अग्नि से जले हुए बीज को कल्मषादिक छोड़ देते हैं, वैसे ही आपकी चक्ररूप प्रतिमा से तपे हुए सज्जनों को कल्मष छोड़ देते हैं। अत: हे प्रभो! उसी भाँति आपकी तेजोमयी प्रतिमा से संतप्त मुझको भी ये कल्मष छोड़-छोड़कर

दौड़े जा रहे हैं अर्थात् तपाये हुए सुवर्ण के सदृश आपने मुझको पवित्र बना दिया ॥२०३॥

करुण्यसिन्धो! करुणाकटाक्षैः पीयूषमर्षैः सुतरङ्गसेकैः।
दंदह्यमानं निजतेजसा मां दुर्वाससं तृप्यः यथाम्बरीषः ॥२०४॥

कारुण्य सिन्धो! (हे करुणासिन्धो!) निजतेजसा (अपने तेज से) दंदह्यमानं (जलते हुए) मां (मुझको) पीयूषमर्षैः (अमृतसदृश) सुतरङ्गसेकैः (सुन्दर तरंगों के निषेचन के समान) करुणाकटाक्षैः (अपनी कारुण्य दृष्टि से) तृप्य (सिंचन अर्थात् शीतल कीजिए) यथा (जैसा कि) अम्बरीषः (भक्त अम्बरीष ने) दुर्वाससं (दुर्वासा ऋषि को) किया था ॥२०४॥

हे कारुण्य सिन्धो! अपने तेज से जलते हुए मुझ किंकर को अमृत सदृश सुन्दर तरंगों के समान अपनी करुणा दृष्टि से सींचकर शीतल कीजिये। जैसे कि आपके तेज से संतप्त दुर्वासा को भक्तराज अम्बरीष ने अपनी सौम्य दृष्टि से अभिसिंचन कर शीतल अर्थात् आपकी प्रार्थना कर आपके प्रखर तेज से उसकी रक्षा की थी ॥२०४॥

अग्नीद्धलाङ्गूलमिवांजनेयं रत्नाकरोऽसि शम ईदृशस्त्वम्!
श्रीराधिकाकृष्णविहारदर्शी श्रीराधिकाकृष्णदयानिधानः ॥२०५॥
त्वत्तप्तमर्माकरुणासुषिक्तश्चाभ्यां सुपूतोऽस्मि वहिस्तथान्तः।
चण्डांशुपक्वाः शरदिन्दुपुष्टा विश्वात्मकौषध्य इव प्रसिद्धः ॥२०६॥

अग्नीदलाङ्ग्गूलं (अग्नि से धधकते हुए पुच्छ वाले) आञ्जनेयं (हनुमानजी के) रत्नाकरः (समुद्र) "समान" ईदृशः (ऐसे प्राणियों की) शमः (शान्ति करने वाला) त्वम् (तुम) असि (हो) श्रीराधिका-कृष्णविहारदर्शी (श्रीराधामाधव के विहारों का साक्षात्कार करने वाले (तथा) श्रीराधिकाकृष्णदयानिधानः (श्रीराधा माधव के दया के स्थान हो) चण्डांशुपक्वाः (सूर्य से पकी हुई) शरदिन्दुपुष्टाः (शरद चन्द्रमा के द्वारा पुष्ट की हुई) विश्वात्मकौषध्यः (संजीवनी

औषधियों) (की) इव (भाँति) त्वत्तप्तमर्मा (आपके द्वारा तपे हुए गात्र वाला) च (और) करुणासुषिक्तः (करुणा से सिंचित आभ्यां (ताप और सेचन इन दोनों के द्वारा) वहिः (बाहर) (तथा) अन्तः (भीतर से) प्रसिद्धः (विख्यात) सुपूतः (कल्मषरहित) इव (जैसे) अस्मि (स्थित हूँ) ॥२०५॥२०६॥

अग्नि से धधकते हुए पुच्छ वाले हनुमानजी को जैसे समुद्र ने शान्त किया, वैसे ही संतप्त प्राणियों की शान्ति करने वाले तुम हो एवं श्रीराधामाधव के विहारों का साक्षात्कार करने वाले और उनकी दया के निधान आप ही हो। जैसे सूर्य से पकी हुई और चन्द्रमा से परिपुष्ट की हुई संजीवनी औषधियाँ रोग शान्त करने में प्रसिद्ध और शुद्ध होती हैं। उसी प्रकार बाहर भीतर से आपके द्वारा तपाये हुये गात्रों वाला और आपकी करुणा से अभिषिक्त मैं प्रख्यात कल्मषों (पापों) से रहित शुद्ध-स्वरूप बन गया हूँ॥२०५॥२०६॥

दुर्वारसंसारनिवारणार्थं निर्विण्ण-चित्तं सविवर्त्तनिष्ठम्।
व्यर्थोद्यमं व्यर्थदिशादिढोकं त्वं मां स्वशिष्यंकुरुनैष्ठिकं वा॥२०७॥

सविवर्त्तनिष्ठं (देहादि विशिष्ट आवरण युक्त) व्यर्थदिशादिढोकं (व्यर्थ ही दिशाओं में फिरने वाले) व्यर्थोद्यमं (बेकार उद्योग करने वाले) मां (मुझको) दुर्वारसंसारनिवारणार्थं (बड़ी कठिनता से निवृत्त होने वाले इस सांसारिक प्रपंच को हटाने के लिये) त्वं (आप) निर्विण्णचित्तं (विरक्तता वैराग्य युक्त) वा (और) नैष्ठिकं (नैष्ठिक) स्वशिष्यं (अपना शिष्य) कुरु (बनाइये) ॥२०७॥

देहादि विशिष्ट आवरणों से युक्त शुद्ध प्रयोजनों के लिये इधर-उधर भटक-भटककर अल्प प्रयोजनों के निमित्त ही उद्योग करने वाले मुझको एवं इस जीवसमूह को बड़ी कठिनाइयों से निवृत्त होने वाले इस सांसारिक प्रपंच को छुड़ाने के लिये मुझको आप वैराग्य सम्पन्न बनाइये और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान कर अपना शिष्य बनाइये, अर्थात् कल्याणकारी शिक्षा प्रदान कीजिये॥२०७॥

वीणाकरं कृष्णनिदेशभाजं पुत्रीं पृथुं कुं शरणागताञ्च।
प्रह्लादवत्तेषु निवेदितात्मा कर्ताऽस्मि शिक्षां सततं सचेता: ॥२०८॥

"यथा" कृष्णनिदेशभाजम् (श्रीकृष्णचन्द्र की आज्ञा के अनुवर्ति) वीणाकरं (नारदजी को) च (और) पृथुं (महाराजा पृथु को) "एवं" शरणागतां (शरण में आई हुई) पुत्रीं (पुत्री) कुं (पृथ्वी को) तेषु (उनमें) प्रह्लादवत् (प्रह्लाद को जैसे श्रीनारदजी ने गर्भावस्था में ही ज्ञान प्रदान किया था, वैसे ही) निवेदितात्मा (आत्म-ज्ञान कराने वाले) कर्ता (उपदेशक आप हैं, "अत:") "तथा मां शाधय" शिक्षां (शिक्षा के प्रति) (मैं) सततं (निरन्तर) सचेता: (एकाग्रचित्तवान्) अस्मि (हूँ) ॥२०८॥

हे प्रभो! जिस प्रकार भगवान् श्रीसनकादिकों ने आनन्दकन्द व्रजचन्द श्रीकृष्णप्रभु की आज्ञानुकूल भगवद्भक्ति के रहस्य को अभिव्यक्त करने वाले वीणाधारी श्रीनारदजी को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा देकर अनुगृहीत किया था, एवं महाराजा पृथु को सदुपदेशों द्वारा अपनाया था। और श्रीवाराह भगवान् ने शरणागत पृथ्वी को विज्ञान प्रदान किया था। एवं श्रीनारद भगवान् ने गर्भावस्था में ही प्रह्लाद को तत्त्वोपदेश कर आत्मज्ञान करवाया था। उसी प्रकार आप मुझको दीक्षा प्रदान कर अनुग्रहीत कीजिये। मैं निरन्तर एकाग्र चित्त हो आपकी प्रदान की हुई शिक्षा के अनुकूल आचरण करूँगा ॥२०८॥

श्रीपादमावेदितहार्द्दमेव शिष्यं स्वसंस्कारकपञ्चकेन।
निम्बार्कदेव! स्वपरंपरां वा श्रीश्रीनिवासाग्रमधात् सुधाञ्च ॥२०९॥
नानोपदेशैर्गतसंशयं तमाज्ञाय चाशाविजयाय चास्व।
गोवर्द्धनाद्रेस्सुसमीपनिम्बग्रामं सदाविर्जयति स्वयं वै ॥२१०॥

श्रीनिम्बार्कदेव! (हे श्रीनिम्बार्कभगवान् आपने) स्वसंस्कारक-पञ्चकेन (अपनी पञ्चसंस्कार कारिणी प्रणाली के द्वारा) आवेदितहार्द्दं (अपना आन्तरिक रहस्य बतलाते हुए) श्रीपादं (श्रीमान्) शिष्यं

(पट्ट शिष्य) श्रीश्रीनिवासाग्रम् (श्रीश्रीनिवासाचार्यजी को) सुधाम् (सुधासदृश) स्वपरंपरां वा (अपनी परम्परा) अधात् (प्रदान) की) (अर्थात् आचार्यपीठ पर अभिषिक्त किया) नानोपदेशैः (अनेक प्रकार के उपदेशों से) तं (उस) "श्रीश्रीनिवासाचार्यजी को" गतसंशयं (निःसन्देह बना) च (और) आशाविजयाय (दिग्विजय करने के लिये) आस्व (आज्ञा प्रदान की) वा (और) गोवर्द्धनाद्रेः (गोवर्द्धन गिरिराज के सुसमीप) निम्बग्रामं (निम्बग्राम में) स्वयं (खुद) सदाविः (सदा प्रकट रूपसे स्थित) जयति (देदीप्यमान रूप से विराज रहे हो) वै (यह निश्चय है) ॥२०९॥२१०॥

आपने पंच संस्कार प्रणाली से हे प्रभो! अपना रहस्य सिद्धान्त और परम्परा अपने पट्ट शिष्य पाञ्चजन्यावतार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी को प्रदान की। अर्थात् स्वसिद्धान्त के पूर्ण ज्ञाता बनाकर आचार्य गदद्दी पर उनकी नियुक्ति की, और उनको अनेक उपदेशों द्वारा निस्सन्देह बना, दिग्विजय के लिये आज्ञा दी। इसी प्रकार आप स्वयं श्रीगिरिराज (श्रीगोवर्द्धन) के सन्निकट ही निम्बग्राम में सदा–सर्वदा प्रकट होते रहते हैं। अतः भावुक भक्तों को इस कथन का अनुभव कराने वाले आपकी जय हो॥२०९॥२१०॥

शून्ये त्वशून्यं खलविघ्न उग्रे निर्विघ्नतां वारि महास्थलञ्च।
निर्वंशतायां तु सुवंशमञ्जो रात्रौ दिनं शुद्धिमशुद्धतायाम्॥२११॥
पाकन्त्वपाके च महत्त्वमल्पे वह्नौ जलत्वं स्थलतस्तु तत्वम्।
रोधे त्वरोधत्वमयोग्यतायां योग्यत्वमात्मीयसुसंस्क्रियौघम्॥२१२॥
व्यर्थोक्तपाषण्डनिषेधबन्धे शुक्रस्थले यः सलिलं ह्यतीर्थे।
विश्वन्त्वविश्वे विजयन्त्वजेये वीचक्षदात्मीयगुरुं तमेमि॥२१३॥

यः (जो) उग्रे (अत्यन्त) खलविघ्ने (दुष्टों के किये हुए विघ्नों से पूर्ण) शून्ये (शून्यस्थल में) निर्विघ्नतां (निर्विघ्नता पूर्वक) अशून्यं (जन समूह को) च (और) वारि (जल में) महास्थलं (विशाल स्थान को) तु (एवम्) निर्वंशतायां (सन्तान न होने वाले कुल में)

अञ्ज: (सहज ही) सुवंशं (शुभ सन्तान को) रात्रौ (रात में) दिनं (दिन को) अशुद्धतायां (अशुद्धता में) शुद्धिं (शुद्धता को) च (और) अपाके (अपक्व वस्तुओं में) पाकं (पक्वता को) अल्पे (न्यूनता में) महत्त्वं (महत्ता को) वह्नौ (अग्नि में) जलत्वं (जलभाव को) तु (एवम्) स्थलत: (भूमि में) तत्त्वं (जल तत्त्व को) रोधे (बन्धन में) अरोधत्वं (निर्वन्ध को) अयोग्यतायां (योग्यता रहित व्यक्तियों में) आत्मीयसुसंस्क्रियौघं (अपने उत्तम संस्कारों की पूर्त्ति रूप) योग्यत्वं (योग्यता को) व्यर्थोक्तपाखण्डनिषेधवन्धे (निरर्थक पाखण्डों से निषिद्ध अत: बन्धकारी) अतीर्थे (तीर्थों से विभिन्न भूमि) शुक्रस्थले (इन्द्रप्रस्थ प्रान्त में) सलिलं (पुनीत जल को) तु (एवम्) अविश्वे (लौकिक मर्यादा रहित स्थल में) विश्वं (समस्त लोक "मर्यादा" को) अजेये (किसी से भी पराजित न होने वाले में) विजयं (विजय को) वीचक्षत् (करके दिखलाया) तं (उस) आत्मीयगुरुं (अपने श्रीगुरुदेव के चरणों के प्रति) एमि (मैं जाता हूँ) ॥२११॥२१२॥२१३॥

जिन अमित प्रभाव वाले श्रीगुरुदेव ने दुष्टों के किये हुए असह्य विघ्नों से युक्त शून्य-स्थल को सज्जन जनों से पूर्ण किया अर्थात् बरबादी मिटाकर आवादी की, और दुष्टों के किये हुए समस्त विघ्नों की शान्ति की। एवं जलमय देश को विशाल मैदान बना दिया। तथा सन्तान रहित कुल को सहज ही में सन्तान युक्त बनाया। रात्रि में दिन का अनुभव कराया और अशुद्धता युक्त भूमियों में शुद्धता प्रदर्शित की तथा असिद्ध वस्तुओं में सिद्धता का आविर्भाव किया, क्षुद्र जन्तुओं को भी अत्यन्त महत्व प्रदान किया, अग्नि में जल की भाँति शीतलता का अनुभव कराया और जलाभाव युक्त स्थलों में जल का आविर्भाव किया। अनेक प्रकार के निर्बन्धों से मुक्ति की और अयोग्य व्यक्तियों में अपने पुनीत संस्कारों की पूर्त्ति कर योग्यता का आविर्भाव किया। एवं निरर्थक पाखण्डों के कारण निषिद्ध एवं वन्ध

प्रद, तीर्थ-भिन्न शुक्रस्थल अर्थात् इन्द्रप्रस्थादि प्रदेशों की भूमि में शुद्ध सलिल (जल) का आविर्भाव किया। लौकिक मर्यादा से रहित व्यक्तियों में लोक-मर्यादा की स्थापना की। तथा पराजित न होने वालों को भी पराजित किया। उन श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में मैं उपस्थित होता हूँ। ॥२११॥२१२॥२१३॥

तात्पर्य यह है कि, भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य के यद्यपि अनन्त प्रकार के चमत्कारी चरित्र हैं, तथापि श्रीऔदुम्बराचार्यजी ने अपने ग्रन्थ में जिन-जिन चरित्रों का वर्णन किया है, उनमें से संक्षिप्तरूपेण चतुर्दश चमत्कारों का यहाँ पर निर्देश है, जो कि ग्रन्थ के आरम्भ से ही वर्णन किये गये हैं। जिनका क्रम इन श्लोकों में "सोपानारोहणावरोहण के क्रमानुसार रखा गया है, अर्थात् जैसे सीढ़ियों पर चढ़ा हुआ मनुष्य जब पीछे उतरता है, तब प्रथम ऊपर की सीढ़ी से उतरता है, ऐसे ही इन श्लोकों में भी प्रथम अन्तिम चमत्कार से ही कहना आरम्भ किया है। उदाहरणार्थ जैसे इन श्लोकों में (१) पहिला चमत्कार-अजेयों को जीतना है, जो इस ग्रन्थ के ८ वें श्लोक में विद्यानिधि नामक दिग्विजय शाक्त को परास्त कर वैष्णवी दीक्षा प्रदानकर शिष्य बनाना प्रकट किया गया है। (२) दूसरा-अपने अन्दर विश्व दिखाना, यह चमत्कार १२ वें १३ वें श्लोक में श्रीनिम्बार्क भगवान् को जगदुत्पादक कहकर अभिव्यक्त किया गया है। (३) तृतीय चमत्कार-अतीर्थों को तीर्थ बना देना २७ वें से ३१ वें श्लोक तक है। जो कि असुरों द्वारा विभ्रष्ट हो जाने वाले नैमिषारण्य को फिर से पुनीत बनाना प्रकट किया गया है।

(४) चतुर्थ चमत्कार-अयोग्यों को योग्य बनाना है, जो कि ३२ वें और ३३ वें श्लोकों में दिखलाया है, अर्थात् परास्त किये हुए विद्याधर शाक्त के परिवर्तित रूप, श्रीगौरमुखाचार्य का स्तुति करना।

(५) पंचम चमत्कार-रुकावटों को मिटाना। यह चमत्कार ४५ वें श्लोक में राक्षसों के हटाने का वर्णन करके प्रदर्शित किया गया है।

(६) छठवाँ चमत्कार–रुकी हुई नौका को चलाना जो कि ४६ वें श्लोक से आरम्भ कर ५४ तक श्लोक में पूर्णरूप से प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् नौका विशेष जल में चल सकती है, किन्तु श्रीनिम्बार्क भगवान् के द्वारा अति अल्पजल में भी नौका का चलना दिखलाया गया है।

(७) सप्तम चमत्कार–अग्नि को शीतल बनाना है, वह ५५ वें और ५६ वें श्लोक से प्रकट किया गया है। अर्थात् नदी के प्रचण्ड सन्ताप को मिटाकर अगस्त्य की शोकाग्नि की शान्ति की गई है। इसका दूसरा उदाहरण ९२ से ९५ श्लोक तक दिया गया है, जब कि श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अपने चारों ओर फैली हुई ज्वाला को पीकर वहाँ पर फैले हुए अग्नि–काण्ड को शान्त किया है।

(८) अष्टम चमत्कार–अल्पता में महत्त्व प्रकट करना है, वह ५७–५८ श्लोकों में है। अर्थात् अपने कुल में जब दो जनक जननी ही रह गये, तब आप स्वयं पुत्ररूप से प्रकट होकर उनकी अल्पता मिटाकर महत्त्व प्रदान किया, इसके अन्य उदाहरण ९० संख्यक श्लोक में गूलर फल को औदुम्बर रूप देकर महत्त्व देना–इत्यादि विस्तृत रूप से समझना।

(९) नवम चमत्कार–असिद्ध को सिद्ध बनाना है, जो कि ५९ वें श्लोक में प्रकट किया गया है। अर्थात् भिक्षुक यति के आश्रम पर आने के समय जो पाक असिद्ध था, उस पाक को शीघ्र ही सिद्ध बना देना।

(१०) दशम चमत्कार–अशुद्धता का संशोधन करना है। यह भी उसी ५६ वें श्लोक में संक्षिप्त रूप से दिखलाया है। अर्थात् जिनके व्रत में रात्रि भोजन निषिद्ध माना गया है, उनको रात्रि में भोजन कराने पर भी अशुद्ध न होने देना। इसी प्रकार अनेक जन्मजन्मान्तरों के दुष्कर्मों से अशुद्ध प्राणियों को भगवान् की पराभक्ति में लगाकर संशोधन करना। इत्यादि और भी अनेक उदाहरण इसके मिल सकते हैं।

(११) ग्यारहवाँ चमत्कार–रात्रि का दिन बनाना है, यह तो प्रसिद्ध है ही, यह चमत्कार ६० वें श्लोक में प्रकट किया गया है।

(१२) बारहवाँ चमत्कार-निर्बंशता में वंश स्थित करना है, जो कि ६२ वें श्लोक से प्रकट किया गया है। अर्थात् स्वयं पुत्ररूप से प्रकट होकर डूबते हुए वंश को जीवित रखना।

(१३) तेरहवाँ चमत्कार-जल में स्थल बना देना है, जो कि ६३ वें श्लोक में प्रकट किया है। अर्थात् अगस्त्य के आश्रम सहित ऋषियों के आश्रमों में जब जल ही जल व्याप्त हो गया था और उस बढ़ी हुई व्राणावती नदी को ऋषियों ने शाप दे दिया था, उस समय उसी नदी में अपना मानसिक स्थल बनाया और शीघ्र वहाँ पधारकर श्रीनिम्बार्क भगवान् ने उनकी आपत्ति दूर की।

(१४) चतुर्दशवाँ चमत्कार-शून्य में अशून्य बनाना है, जो कि ६४ वें श्लोक तक पूर्ण किया है, अगस्त्य आदि ऋषियों के उजड़े हुए आश्रमों को फिर से स्थापित करना है।

इस प्रकार क्रमपूर्वक चतुर्दश चमत्कारों की सूची यहाँ बतलायी गई है। जिनका सामान्य दिग्दर्शन उपरोक्त रीति से जानना चाहिये। विशेष चमत्कारी "सूखी हुई भूमि पर नदी बहाना, पाषण्ड मतावलम्बियों को परास्त करना, दुर्दान्त दुर्जनों के दल का स्थम्भन, विराट् स्वरूप प्रदर्शन", आदि-आदि चरित्रों का वर्णन ८३ वें श्लोक से आगे ग्रन्थ की पूर्त्ति तक किया गया है।

इसी सूक्ष्म सूची की विस्तृत सूची, ग्रन्थ के आदि में दी हुई सूची के देखने से ज्ञात होगी।

निम्बार्कनामा ह्ययमेव निम्बग्रामे स्थितः संततनिम्बभोजी।
निम्बेन नामौषधवर्य्यकेण मात्सर्यकार्य्यं पचतात्सदा मे॥२१४॥
दुर्वासनात्तानपि शोधयित्वा हार्द्दप्रमर्षैः सुरभीचकार।
चर्माणि वल्ल्याकरवायुवद्धश्रीराधिकाकृष्णपरत्वनिष्ठैः॥२१५॥

अयम् (यह) सन्ततनिम्बभोजी (निरन्तर निम्ब का भोजन करने वाले) निम्बार्कनामा (निम्बार्क नाम वाले) एव (ही) (आचार्यश्री)

निम्बग्रामे स्थितः (निम्बग्राम में स्थित रहकर) निम्बेन नामौषधवर्य्यकेण (निम्बार्क नाम रूपी सुन्दर औषधि से) मे (मेरे) मात्सर्य्यकार्यं (अभिमान रूपी कार्य को) सदा (सर्वदा) पचतात् (पकावें)।

वल्ल्याकरवायुवद्ध श्रीराधिकाकृष्णपरत्वनिष्ठैः (वल्ली और आकर आदि के साथ संस्पृष्ट समीर युक्त श्रीराधामाधव के परत्व को प्रकट करने वाले) हार्द्द प्रमर्षैः (हार्दिक सिद्धान्तों के द्वारा) दुर्वासनाक्तान् (दुर्वासनाओं से पूर्ण चित्तों को) अपि (भी) शोधयित्वा (संशुद्ध कर) चर्माणि (अन्तिम आशय चित्तरूपी चर्मों को) सुरभीचकार (सुगन्धित) (बनाये) ॥२१४॥२१५॥

निरन्तर निम्ब का ही भोजन करने वाले श्रीनिम्बार्क नाम वाले जिन आचार्य–चरणों ने सदा निम्बग्राम में स्थित रहकर निम्बार्क–नामरूपी औषधि के द्वारा मेरे अभिमान के वृक्ष का उच्छेदन किया, वे ही अन्य शरणागत जनों के भी अभिमान तरुवरों को निर्मूल बनावें, जिन्होंने कि दुर्वासनाओं से संसक्त चित्तों को लता–पता और कन्दराओं की पुनीत पवन से संयुक्त श्रीराधामाधव की महिमा को प्रकट करने वाली अपनी सुधा सदृश वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले हार्दिक रहस्यों से संशुद्ध कर वासनाओं के गुप्त आशयरूप दूषित चित्तरूपी चर्मों में सुगन्धि का संचार किया है। अर्थात् दूषित चित्तों की दुर्भावनायें दूर कर उनमें सद्भावनापूर्वक श्रीराधासर्वेश्वर की प्रेमा–भक्ति का आविर्भाव किया है॥२१४॥२१५॥

एतान्त्रिसन्ध्यं सुगभीरवाचा सूच्चारयन् कण्ठ इहावहेद्यः।
निम्बार्कविक्रान्तिसुरत्नराजीं श्रीराधिकाकृष्ण परः स साधुः॥२१६॥
व्याख्यापयेद्यः स्वसतां समाजे स्वोत्कर्षणौहां भजतां निजार्यान्।
मूर्खो भवेत् पण्डितराजनिम्बादित्यानुयायी रमते स्वभर्त्रोः॥२१७॥

यः (जो) इह (जगत् में) एतां (इस) निम्बार्कविक्रान्तिसुरत्नराजीम् (श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति रूपी सुन्दर रत्नों की माला को) सुगभीरवाचा

(सुन्दर गम्भीर वाणी से) त्रिसन्ध्यम् (प्रातः, मध्याह्न, और सायंकाल इन तीनों समयों में) सूच्चारयन् (उच्चारण करता हुआ) कण्ठे (कण्ठ में) आवहेत् (धारण करे) स (वह) श्रीराधाकृष्ण परः (श्रीराधासर्वे-श्वर भगवान् का आश्रित) साधुः (सज्जन) मूर्खः (मूर्ख) "भी" पण्डितराज (विद्वत् शिरोमणि) भवेत् (बन जाय) च (और) निजार्यान् (अपने आचार्यों को) भजताम् (सेवा करने वाले) सतां (सज्जनों के) समाजे (समाज में) स्वोत्कर्षणौहां (अपनी उत्कर्षता धारण करने वाली) "इसकी" व्याख्यापयेत् (व्याख्या करे) स (वह) निम्बादित्यानुयायी (श्रीनिम्बार्क भगवान् का अनुयायी) स्वभर्त्रोः (अपने स्वामी श्रीराधा- कृष्ण भगवान् के) "चरणों में" रमते (निवास करे) ॥२१६॥२१७॥

निम्बार्क भगवान् की इस विजय रत्नावली को जो कोई प्रातःकाल और मध्याह्नकाल तथा सायंकाल इन तीनों समय में मन्द–मन्द गम्भीर स्वर से पढ़ पढ़कर अपने कण्ठ में धारण करेगा, वह सज्जन इसी लोक में भगवान् श्रीराधामाधव का परम प्रिय अनन्य–भक्त बन जायेगा।

एवं अपने पूर्वाचार्यों को भजने वाले महात्माओं तथा सज्जन साधकों की सभा के अन्दर जो सज्जन श्रीनिम्बार्क भगवान् के उत्कर्ष को प्रकट करने वाली इस विक्रान्ति का यथाबुद्धि व्याख्यान करेगा, वह मूर्ख भी हो तो, विद्वान्मुकुटमणि बन जायेगा। अगर श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय का अनुयायी इसकी कथा करै, तो वह अपने परमोपास्य भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर के चरणकमलों का ध्यान कर आनन्द का अनुभव करेगा॥२१६॥२१७॥

आकर्षयेद्यो निजसारवुद्धिं सर्वानुवृत्त्या निजधर्मनिष्ठः।
श्रीराधिकाकृष्णतटस्थरीत्या श्रीरङ्गदेवीव विलोकयेत्तौ॥२१८॥
श्रीकृष्ण! दामोदर! नन्दसूनो! श्रीराधिकानाथ! सखीगणस्थ!
वृन्दावनान्तश्वर! गोपगोपीप्राणप्रियेति स्वयमुच्चरेत्सः॥२१९॥

यः (जो) निजधर्मनिष्ठः (स्वधर्म परायण) सर्वानुवृत्या (सम्पूर्ण ग्रन्थ में से पूर्वा पर की अनुवृत्ति के द्वारा) निजसार बुद्धिं (ग्रन्थ के अन्दर से तत्त्व–ज्ञान को) आकर्षयेत् (आकर्षित करेगा) वह श्रीराधिकाकृष्ण- तटस्थरीत्या (श्रीराधामाधव के आसपास रहकर) श्रीरंगदेवी (भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य के रहस्य स्वरूप श्रीरंगदेवी) इव (की भाँति) तौ (उन दोनों, प्रिया प्रीतम का अहर्निश) विलोकयेत् (दर्शन करेगा)।

(और) स (वह मुक्त पुरुष) भगवान् के साथ) श्रीकृष्ण (हे श्रीकृष्ण!) दामोदर (हे दामोदर!) नन्दसूनो (हे नन्दनन्दन!) श्रीराधिकानाथ! (हे श्रीराधिकानाथ!) सखीगणस्थ (हे सखी यूथस्थ!) वृन्दावनान्तश्चर (हे वृन्दावन विहारी!) गोपगोपी–प्राणप्रिये! (हे गोप गोपियों के प्राणधन!) इति (इस प्रकार) स्वयं (खुद) उच्चरेत् (सम्भाषण करे) ॥२१८॥२१९॥

जो स्वधर्मपरायण विद्वान् इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़कर सम्पूर्ण ग्रन्थ में से पूर्वा पर (आगे पीछे) की अनुवृत्ति से, हमारे कथन का वास्तविक तत्त्व निकालकर मन में धारण करेगा, वह भक्त जैसे नदी के तट सदा सर्वदा उसी के पास में रहते हैं, उसी प्रकार आनन्दसरिता स्वरूप भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर के पार्श्व भाग में स्थित रहकर श्रीरंगदेवीजी की भाँति अपने परमधन प्राण जीवन श्रीराधासर्वेश्वर के अहर्निश दर्शन करता रहेगा, और सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर प्रतिक्षण भगवान् के साथ हे श्रीकृष्ण! हे दामोदर! हे नन्दनन्दन! हे श्रीराधिका कान्त! हे सखीवृन्द मध्यस्थ वृन्दावनविहारी! हे गोप–गोपी प्राणजीवन धन! इस प्रकार सम्भाषण करता रहेगा। अर्थात् इस ग्रन्थ के मनन करने से प्रथम इसके तत्त्वार्थ का अनुसन्धान होगा, फिर अभ्यास करते-करते भगवान् की भक्ति का आविर्भाव होगा। उसके अनन्तर श्रीराधासर्वेश्वर के चरणों में अविच्छिन्न ध्यान लगेगा। फिर उन चरणों की प्राप्ति होगी, जहाँ

जाकर कि इस जन्म मरणादि महा दु:खमयी संसार की यात्रा पूर्ण हो जाती है और सदा-सर्वदा सुख-सिन्धु के सन्निकट स्थित रहकर नित्य निरतिशय आनन्दामृत पान करता रहता है। जिससे की पूर्वानुभूत इस संसार की धारा भी असमर्थ हो जाती है। अत: इसका स्मरण भी नहीं होता। अपितु उसी आनन्दसिन्धु के श्रीकृष्णादिनन्दनन्दन नाम और नित्यविहार के चरित्रों का स्मरण तथा दर्शन होता रहता है। बस, इस को भगवद्भक्त की प्राप्तिरूप मोक्ष कहते हैं। और इसी को "त्रिविध दु:खात्यन्त निवृत्ति:", एवं स्वस्वरूपावाप्ति और आनन्दा-वाप्ति आदिक नामों से भी विद्वज्जन कहते, सुनते और लिखते हैं॥२१८॥ ॥२१९॥

औदुम्बरेणेति विनिर्मिता श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिसुरत्नराजी।
व्याख्यापितोक्ताश्रुतमात्रभक्तानु प्रेमदा प्रेष्ठकरा समाप्ता॥२२०॥

इति (यह) श्रुतमात्रभक्तान् (श्रवण मात्र से ही भक्तों के चित्त में प्रेम उत्पादन करने वाली) उ (और) व्याख्यापिता (व्याख्यान करने पर) प्रेष्ठकरा (हित प्रदान करने वाली) औदुम्बरेण (श्रीऔदुम्बराचार्य द्वारा) विनिर्मिता (रची हुई) उक्ता (तत्कालीन भक्तों को कही हुई) श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिसुरत्नराजी (श्रीनिम्बार्क विजय-रत्न-माला) समाप्ता (सम्पूर्ण हुई)॥२२०॥शमिति॥

यह श्रवणमात्र से ही भक्तजनों की चित्त-वाटिका को प्रसन्न करने वाली और व्याख्यान करने पर प्रशंसनीय हित करने वाली श्रीमद् औदुम्बराचार्य विरचित और उस समय में विद्यमान ऋषिमहर्षियों के प्रति कही हुई श्रीनिम्बार्क-विजय-दिव्य-रत्नमाला सम्पूर्ण हुई॥२२०॥

श्री श्रीजीयतिराजानां कुञ्जे वृन्दावनीयके।
यदा सुजीर्णग्रन्थानामन्वेषणपरोऽभवम्॥१॥
प्राप्ताः केचित्तत्रग्रन्थाः ख्यातिवादादयस्तदा।
पूर्वाचार्यैः स्वग्रन्थेषु नाम्ना संकेतिता हि ये॥२॥
अन्येऽपि वहवो ग्रन्थाः श्रीनिम्बार्कमतानुगाः।
प्राप्तास्तान् विदुषो दृष्टवा परं हर्षमुपागता॥३॥
तेषु तत्रैव संप्राप्तो ग्रन्थरत्नोऽप्ययं शुभः।
याचितोऽयं मुद्रणार्थं दतियाकुञ्जवासिना॥४॥
श्रीयुद्बाबा रामचन्द्रासेन नम्रप्रार्थिना।
श्रीमत्किशोरदासैश्च विद्वद्वर्य्यैः प्रभाषितम्॥५॥
आशुभाषानुवाद्योऽयं सम्प्रदायहिताय वै।
प्रकाश्यश्चानुरोधेन समारूढोऽभवच्च स॥६॥
तत्तयोराग्रहेणैव श्रीनिम्बार्कानुयायिना।
शरणान्तेन रम्या श्रीव्रजबल्लभशास्त्रिणा॥७॥
सर्वलोकोपकारार्थं टीका भाषासुधाकृता।
तया संतुष्यतां मे श्रीराधासर्वेश्वरो हरिः॥८॥
बाबा श्रीरामचन्द्रेण सच सद्यः प्रकाशितः।
तस्मात्सुधन्यवादार्हःसोऽपि साहित्य सेवकः॥९॥
मूलग्रन्थेऽशुद्धयो या क्वचिल्लेखकदोषजाः।
क्षम्यतां देव! तच्छुद्धयै तद्वर्णपरिवर्तने॥१०॥
निखिलनिगमगम्ये नन्दनन्दस्य धाम्नि,
यतिपतिसनकश्रीसम्प्रदायेश्वराणाम्।
चिनुवति मयि कुञ्जे ग्रन्थरत्नोऽयमाप्तः,
हरिपदकमलेतस्स्थाप्यते भाषितोऽपि॥११॥